महाकाव्य : विवेचन

लेखक—
डा० रांगेय राघव

विनोद पुस्तक मन्दिर
हॉस्पिटल रोड, आगरा।

प्रकाशक—
राजकिशोर अग्रवाल
विनोद पुस्तक मन्दिर
हास्पिटल रोड, आगरा।

प्रथम संस्करण
फरवरी—१९५८
मूल्य ३)

मुद्रक—राजकिशोर अग्रवाल, कैलाश प्रिंटिंग प्रेस,
बाग मुजफ्फरखाँ, आगरा।

विषय-सूची

भूमिका

प्राणिशास्त्रियों का कथन है कि पृथ्वी पर मनुष्य का जन्म क्रम-विकास से हुआ है। यद्यपि आज के नये वैज्ञानिकों में इस विषय में अनेक मतभेद उत्पन्न हो गये हैं, जो कि संदेह उत्पन्न करते हैं, फिर भी अभी किसी ने विकासवाद की विचारधारा को जड़समूल उखाड़ कर नहीं फेंका है। लेकिन आधुनिक युग का चिंतन अधिकाधिक इस पर जोर देता है कि रूढ़ियों को पकड़ कर उन पर विश्वास नहीं करना चाहिये। हो सकता है कि एक युग में एक बात बहुत ही ठीक और महत्त्वपूर्ण समझी जाती रही हो ; परन्तु यह आवश्यक नहीं है कि आगे आने वाले युग में भी उसका वही स्थान बना रहे।

हमारे सामाजिक नियम कुछ तो हमारे रहन-सहन की आवश्यकताओं के अनुकूल बनते हैं और कुछ वे इस पर निर्भर करते हैं कि हमारे उत्पादन के साधन क्या हैं, और कैसे हैं? हर युग में मनुष्य अपना तादात्म्य अपने चारों ओर की प्रकृति से बिठाना चाहता आया है। इसीलिये उसने अपने को 'महत्' के सम्बन्ध में रखकर देखा है।

किंतु मनुष्य के जीवन में यह 'महत्' के सम्बन्ध, यह ज्ञान-विज्ञान के विकास, सबकुछ नहीं होते। विज्ञान के बदलते सत्यों में मनुष्य जब अपने लिए कोई आस्था का आधार नहीं बना पाता, तब वह भटकने लगता है। उसे उस समय अपने जीवन से कोई प्रेम नहीं रह जाता। ऐसे युग जिनमें एक व्यवस्था पर दूसरी व्यवस्था अपना प्रभाव डालती है, कभी तो उसमें नये के प्रति आवेश-जन्य चमत्कार-प्रियता से भरा मोह उत्पन्न करते हैं और कभी-कभी उसमें गतिरोध-सा जन्म लेने लगता है। उस समय उसका मन बहुत उचाट खाता है।

ऐसे ही युग में मनुष्य सोचने को अधिक विवश होता है। जिस युग में मनुष्य की पीढ़ी अपने स्वार्थ में लिप्त रहती है, उस समय बुद्धि पर बल नहीं

रहता। मेरा तात्पर्य बुद्धि = कौशल चतुरता नहीं, बल्कि सद् असद् की भावना से है। ऐसे में मनुष्य अपने स्वार्थ के अनुकूल ही अपने को समझा लेता है। जैसे उन्नीसवीं सदी में इङ्गलैंड के वासी यह धारणा अपने मन में बिठा चुके थे कि उनको अन्य पूर्वीय जातियों पर शासन करने का न्याय्य अधिकार था। वे लोग व्यापारी थे, और उनका मुनाफ़ा उन्हें यही सोचने को प्रेरित करता था। उसके बाद जब राजनैतिक परिस्थितियाँ बदल गईं, तो नयी पीढ़ी के अंगरेज का विश्वास उस पुरानी धारणा पर टिक नहीं सका। पूर्वीय जातियों की न्याय की पुकार और आन्दोलनों ने उन लोगों के विश्वासों को तोड़ दिया। और भी अधिक स्पष्ट रूप से इसे यों समझा जा सकता है कि यूरोप के सौदागरों के आने के पहले यद्यपि भारत में जाति-प्रथा के अनेक विरोधी हुए, किन्तु उच्च जातियाँ निम्न जातियों को अस्पृश्य बना कर रखने के सिद्धान्त को प्राय: पूर्णतया न्यायोचित समझती रहीं। इसका कारण था भारत की खेतिहर उत्पादन व्यवस्था और सामंतीय समाज भूमि। यूरोपीय सौदागरों के आने के साथ भारत की यह व्यवस्था टूटने लगी और उस पर पूँजीवादी व्यवस्था का प्रभाव पड़ने लगा। अलावा इसके भारत की सर्वश्रेष्ठ मानी जाने वाली उच्च जातियों को यूरोप के वासियों ने गुलाम का दर्जा दिया। इस पर इन जातियों ने विरोध किया। उसका परिणाम यह हुआ कि हमारी निम्न जातियों ने भी सिर उठाया और कुछ ही दिन बाद जब अपनी उन्नति की माँग की तो उच्च जातियों का वह विश्वास हिल गया, जिसमें वह अपने को उन पर न्यायोचित शासन करने वाला मानती थीं। इस प्रकार के परिवर्त्तन भले ही अपने बाह्याचार में केवल यही दिखाई दें कि यह मनुष्य के विकास के चिन्ह हैं, परन्तु उनके मूल में समाज का तत्कालीन आर्थिक और राजनैतिक ढाँचा होता है।

किन्तु मनुष्य का इतिहास यह बताता है कि वह केवल इतने में ही सीमित नहीं हो जाता। उसको हम प्रत्येक युग में मनुष्य के रूप में देखते हैं। वह मनुष्य का रूप क्या है? मनुष्य का रूप उसके सामाजिक आचार व्यवहार में व्यक्त होता है। वह धर्म मानता है, प्रेम और विवाह करता है, अपनी कुछ बातों को अच्छा कहता है, कुछ को बुरा और इस प्रकार उसका विकास हुआ करता है; क्योंकि मनुष्य समाज में रहता है, उसकी इकाई की अभिव्यक्ति अन्यों से सापेक्ष

सम्बन्धों में मुखर हुआ करती है। इन अभिव्यक्तियों के पीछे उसकी भय-भावना, उदात्त भावना, करुणा, शृङ्गार, वीरत्व, रौद्र स्वभाव, भयानक अनुभूति इत्यादि प्रगट होती हैं। और इनके पीछे क्या होता है ? वही वह है जो मनुष्यों में समान रूप से होती है। और वह है प्रवृत्ति।

प्राचीन और मध्यकालीन मनुष्यों का विश्वास था कि मनुष्य की सृष्टि ईश्वर ने विशेष रूप से की है, तभी वह अन्य प्राणियों की तुलना में बुद्धिमान होता है। यह मनुष्य का अपना विश्वाम था और इस विश्वास के लिये उसके पास कारण था, क्योंकि वह अपने को प्रकृति में अन्य प्राणियों का स्वामी पाता था। मनुष्य ने यह तो स्वीकर किया कि प्रकृति की शक्तियों पर उसका प्रभुत्व नहीं था। अत. वह ईश्वर को मानता था। और ईश्वर की कल्पना भी मनुष्य ने अपनी कल्पना की सीमाओं में रह कर ही, की। परन्तु वर्त्तमान युग में मनुष्य का यह विश्वास प्राणिशास्त्रियों ने ढहा दिया। मनुष्य ने आकाश के असंख्य नक्षत्रों का ज्ञान प्राप्त करने पर अनुभव किया कि वह वास्तव में विराट् सृष्टि में बहुत ही नगण्य था। उसने यह भी अनुभव किया कि उसके ज्ञान के मानदण्ड वास्तव में सीमित और सापेक्ष थे। इस विचार ने उसे बहुत बड़ा धक्का दिया। एक बार उसे लगने लगा कि विज्ञान ही वास्तव में सबकुछ था और उसका धर्म, ईश्वर इत्यादि सम्बन्धी जो विचार था वह सब उसकी मन बहलाने की बात थी, जिसे पीढ़ी पर पीढ़ी मनुष्य ने अपनी परिस्थितियों के अनुकूल सोचा-विचारा था। एकदम ही उसकी भौतिक शक्ति बढ़ गई थी। पहले संसार में सबसे तेज़ गति घोड़ों पर आश्रित थी, अब वह लोहे के यन्त्रों में आ गई, क्योंकि भाफ और तेल से वह उन्हें चलाने लगा। नये विकास में उसके यन्त्रों ने आँखों से न दीखने वालों को बड़ा करके दिखाया, दूर को पास कर दिया, उसने शब्द को पकड़ा, और प्रकाश पर अपना काबू किया। विजली को बाँध लिया। कितना बड़ा परिवर्त्तन था यह ! उसके पूर्वजों ने ऐसा कभी नहीं किया था। अवश्य ही पौराणिक कथाओं में मनुष्यों ने कुछ कल्पनाएं की थीं, परन्तु अब वह सब सत्य दिखाई दे रहा था। ऐसे में उसका संतुलन बिगड़ भी जाता तो क्या अस्वाभाविक था ?

परन्तु इतने पर भी मन को शान्ति चाहिये थी। वह सोचने लगा—अब क्या हो ?

१] पुराने विश्वास टूट गये,

२] नये जन्म लेने लगे,

३] न तो संधिकाल का कोई दर्शन जन्म ले सका,

४] न अपने विकास में मनुष्य अपने मूल स्वभावों का परित्याग कर सका।

५] पहली बार मनुष्य ने अनुभव किया कि उसका विकास यद्यपि उस पर गहरा प्रभाव डालता था, परन्तु वह मूलत: किन्हीं क्षुत्तृषा की पिपासाओं से भी ग्रस्त था।

६] इस द्वन्द्व ने समाज में अनेक प्रकार की विकृतियों को जन्म दिया, जिन पर एक बार दृष्टिपात कर लेना लाभदायक सिद्ध होगा।

प्रवृत्ति को विकृति समझा गया और हमारे सामने व्यक्ति वैचित्र्यवाद का विकास अधिक हुआ।

अनेक प्रकार के वादों ने यूरोप में जन्म लिया। ऐसे वाद जिनकी कि भारतीय चिन्तन में कोई स्थिति नहीं थी, भारत में भी अपना प्रभाव डालने लगे। उन्होंने कई लोगों को चमत्कृत भी किया। आज भी जो प्रयोगवादी हैं, वे ऐसी ही चमत्कार-प्रियता के अपने खोखलेपन को छिपाने की योजना में निरत हैं। अजीब दिखाई देने वाले या उन बनने वाले लोगों की असलियत देखने के लिये आवश्यकता है कि पहले उनमें प्रवृत्ति के खेल देखे जायें। अधिकांश इन विचारधाराओं ने इसलिये अधिक बल पाया कि व्यक्ति-स्वातन्त्र्य की भावना का इनमें पुट था, जब कि प्रगतिवादी चिन्तन के दावेदार यांत्रिक जीवन को अधिकाधिक प्रश्रय देते हुए नागरिक स्वतंत्रताओं का हनन कर रहे थे, यद्यपि यह केवल सीमित प्रतिबंध थे, और उनके विचारों में भी जन-कल्याण की भावना का पुट ! इस द्वन्द्व ने व्यक्ति की रक्षा के प्रयत्न में सामाजीकरण की भावना का विरोध पैदा किया और समाजीकरण की भावना एक अंश तक व्यक्ति-स्वातंत्र्य को सामंतीय और पूंजीवादी विकृति कहने लगी। इस प्रकार प्रवृत्ति का संघर्ष वादमूलक ही नहीं हुआ, बल्कि जीवन के दो दर्शनों का संघर्ष बन गया।

प्रश्न यह उठा कि मनुष्य क्या है ? वह क्यों जीवित रहता है और क्या करे ? किसलिये उसे साहित्य की आवश्यकता है ? साहित्य मनुष्य की किन आवश्यकताओं की पूर्त्ति करता है ?

इन्हीं प्रश्नों के उत्तर में वस्तुत: हमारी परम्परा के भीतर पलने वाले मानव-वाद का स्वर है, जिसे हम सुनने के आदी होगये हैं। किंतु अधिक अभ्यस्त हो जाने से हम उसे अलग करके नहीं देख पाते।

मनुष्य ने पहले इस पृथ्वी पर जन्म लिया, बाद में ही तर्क किया। यदि हम जान पाते कि हमारे अतिरिक्त इस पृथ्वी के अन्य प्राणी भी किसी प्रकार का तर्क करते हैं, तो शायद हमारा चिन्तन कुछ और ही हो जाता। एक बार मेरे एक मित्र ने एच. जी. वैल्स का 'वार आफ़ द वर्ल्ड्स' पढ़ कर कहा था कि यही क्यों कल्पना की जाती है कि मंगल ग्रह से आये लोगों ने पृथ्वी-वासियों को हरा दिया ? पृथ्वीवासियों ने क्यों नहीं हराया कहीं जाकर ?

इसका सीधा उत्तर यही है कि पृथ्वी से हम बाहर नहीं गये, अत: इस प्रकार की कल्पना बहुत दूर की लगती है। और जो बाहर से आया है वह अवश्य ही सशक्त होना चाहिये, यह कल्पना कठिन भी नहीं है।

इसीलिये मनुष्य की कल्पना का रस उसकी सीमा के ज्ञान की अनुभूति है। इसी की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति है साहित्य। और इसीलिये वह हमारे जीवन के लिये अत्यन्त अनिवार्य है।

साहित्य का पहले मौखिक रूप में सिरजन हुआ और किन्हीं सामाजिक परिवेशों में हुआ। भारतीय चिन्तन ने ही युगों के परिवर्त्तन को स्पष्ट समझा। उसने पुरोहित-वर्ग की कविता को मनुष्य के भावपक्ष को आन्दोलित करने में अशक्त समझ कर उसे अपौरुषेय कह दिया। भारतीय सामन्तवाद के उदय ने समाज को जो मानववादी विचारधारा दी, उसी के आधार पर भारतीय विचारकों ने, सामंतीय युग के प्रारंभिक काल की महान पुस्तक वाल्मीकि रामायण को अपना आदिकाव्य माना, क्योंकि वह काव्य भाव-प्रधान था, और उसमें मनुष्य का आदर्श वर्णन किया गया था।

जिस प्रकार सृष्टि का प्रत्येक परमाणु अपने चारों ओर के वस्तु-जगत से सामंजस्य ढूंढ़ता है, मनुष्य भी इसी कार्य में रत रहा है और है। यही इङ्गित

करता है कि आगे भी वह यही करता रहेगा। इस सामंजस्य के चेतन क्षेत्र की अभिव्यक्ति साहित्य है और अपने सूक्ष्मतम रूप में कविता।

यहाँ हम यही देखने का प्रयत्न करेंगे कि इन सबका मूलाधार क्या है। मेरी राय में यह मानवतावादी स्थापना है, जो इन सारे आयामों को स्थिर किये है। हमारा प्राचीन साहित्य इसके लिये सर्वप्रथम अध्ययन का विषय है। दूसरी बात हमें देखनी है कि मानवतावाद ने किस व्यापकता से धर्म पर प्रभाव डाला है, जो भारत में साहित्य की पृष्ठभूमि रहा है। तीसरी बात है वर्त्तमान काव्य में कहाँ तक हम उस परम्परा को अपने भीतर आत्मसात कर पा सके हैं। अन्त में हमें इस परम्परा का वह स्वरूप देखना है जिसने नये अध्यायों को जन्म दिया है।

इन पृष्ठों में मैं इसी को सुलझाने की चेष्टा करूँगा। किन्तु मेरा आधार मनुष्य का सत्य, वह सत्यमात्र है, जिसमें मनुष्य व्यापक रूप से आता है, अपने वस्तु वातावरण से भिन्न नहीं रह जाता, किन्तु वह सृष्टि का 'सत्य' भी है या नहीं यह नहीं कहा जा सकता। कला का सत्य और यथार्थ का सत्य क्या मनुष्य के 'सत्य' के ही दो रूप हैं; यह भी प्रश्न मैं अपने सामने यहाँ रखूँगा; क्योंकि सत्य को जब तक सापेक्ष दृष्टि से नहीं देखा जायेगा तब तक हम नई प्रमाओं को नहीं देख सकेंगे।

महाकाव्य : विवेचन

प्राचीन कविता और उसका विश्लेषण

— १ —

परिचय—संसार की सबसे पुरानी कविता 'वेद' में ही प्राप्त होती है। 'वेद' शब्द का अर्थ है—'ज्ञान'। पहले यह कविताएं सुनकर याद कर ली जाती थीं, इसीलिये वेद का दूसरा नाम श्रुति है। हिन्दुओं में पुराना विचार यह था कि वेद को ईश्वर ने प्रगट किया था और ऋषि उसके द्रष्टा थे। अतः वेद अपौरुषेय है। गौतम बुद्ध के समय तक त्रिवेद ही प्रसिद्ध थे, किन्तु छान्दोग्योपनिषद् तथा अन्य परवर्त्ती वैदिककालीन रचनाओं में ही नहीं, वरन् स्वयं विराट पुरुष के प्राचीन वर्णन 'पुरुष सूक्त' में भी 'छन्द' का वर्णन आता है—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे,
छंदाऽऽसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत ।७।

इससे प्रगट होता है कि 'छंद' कहलाने वाली कविताएं ही परवर्त्ती काल में अथर्ववेद के नाम से प्रचलित हुईं। इस प्रकार ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, और अथर्ववेद— चार प्रसिद्ध हुए।

काल निर्णय—यूरोपीय विचारकों का प्रयत्न यही रहा कि वे भारतीय सांस्कृतिक परम्परा को परवर्त्ती सिद्ध करें। फिर भी विन्टरनित्स ने कहा कि : "वेद बुद्ध के समय में भी इतने प्राचीन माने जाते थे कि उन्हें अपौरुषेय सा ही समझा जाता था। बुद्ध ईसवी छटी शती पूर्व में थे। तब हम वेद के रचनाकाल को २५०० ई० पू० तो मानने को विवश ही हैं।' कुछ विद्वानों ने वेद को ३५००--२५०० ई० पू० के बीच में बना हुआ माना।

बोगजकोई नामक स्थान में खुदाई में मिले शिलालेख और ईंटों पर अंकित लेखों से यह प्रगट हुआ है कि किसी समय वहाँ भी इंद्र आदि की उपासना होती थी। विद्वानों ने उन लेखों का समय १४०० ई० पू० के लगभग निर्णीत किया

है। डॉ० सुनीतिकुमार चादुर्ज्या आदि का मत है कि बोगजकोई के लेखों में जिस भाषा का प्रयोग हुआ है, वह निस्संदेह वेद की संस्कृत से प्राचीन है, क्योंकि उसमें अनेक ध्वनियाँ ऐसी हैं जो ईरानी में भी मिलती हैं। उनके मतानुसार जब वैदिक संस्कृत और ईरानी पूर्णत: अलग नही हुई थीं वह भाषा तब की हो सकती है। हाल में हुई हस्तिनापुर की खुदाई ने भी यही बताया है कि शीस्तान से रूपार तक जो बैल्ट फैली थी उसी संस्कृति के हमें, ई० पू० २००० की संस्कृति के विलय के उपरान्त लगभग ई० पू० १४०० में दर्शन मिलते हैं, जो यह प्रगट करता है कि आर्य भारतवर्ष में लगभग १४०० ई० पू० में आये होंगे और वेद उन्ही की कविता थी। यद्यपि यह तर्क ऊपर से देखने में कुछ ठीक लगते हैं; किंतु धरती में मिली वस्तुओं का काल्पनिक निर्णय नहीं किया जा सकता। वेद में जिस घोड़े का वर्णन हुआ है, उस घोड़े के हस्तिनापुर में कोई चिह्न नहीं मिले हैं। अत: यह विवादास्पद ही है। जब तक अन्य प्रमाण नहीं मिलें तब तक हमें केवल वेद की प्राचीनता को मानना ही होगा, क्योंकि बोगजकोई की भाषा भी आधार नहीं हो सकती। एक ही समय में एक ही भाषा के भिन्न-भिन्न स्थानों में अनेक प्राचीन नवीन रूप चलते हैं जैसे मदरास की तमिष की तुलना में लङ्का की तमिष पुरानी है और जावा सुमात्रा की तमिष उससे भी पुरानी।

प्राचीनता—बुद्ध के समय में वेद अपौरुषेय माने जाते थे। जैमिनि ने वेद की प्राचीनता के कारण या अन्य दृष्टिकोणों से इस पर बड़ा ज़ोर दिया था। बुद्ध के कुछ ही बाद लोकायत सम्प्रदाय के नेता चारवाक ने वेद के गड़े हुए खंभों को उखाड़ फेंकना चाहा था, परन्तु वह सफल नहीं हुआ। बुद्ध से पहले यास्क ने निरुक्त लिखा था। उसने अपने से पहले के कई आचार्य्यों के नाम गिनाये हैं जिन्होंने वेद की व्याख्या की थी। यास्क ने यह भी इङ्गित किया है कि वेद की भाषा काफ़ी प्राचीन है और इसका अर्थ तभी कठिन है। इससे प्रगट होता है कि वेद प्राचीन ही हैं, क्योंकि यदि इनका काल १२०० -१४०० ई० पू० के बीच मान लिया जाये तो यह नहीं माना जा सकता कि लगभग ७०० ई० पू० यानी ६००--७०० वर्ष में ही यह भाषा इतनी पुरानी पड़ गई कि लोग इसका अर्थ ही निकालना भूल गये। हम लोग कबीर की भाषा खूब समझते हैं। बल्कि विद्वानों ने यह माना है कि लगभग ५०० ई० पू० के समीप ही छान्दोग्यो-

पनिपद् का प्रणयन हुआ, जो कि परवर्त्ती वैदिक भाषा में है। समकालीन ही महर्षि पाणिनि का समय है जिन्होंने लौकिक भाषा (संस्कृत) का व्याकरण बनाया था। व्याकरण तब बनता है जब भाषा जनता में प्रचलित होती है। इसका अर्थ यह हुआ कि जब लोक में लौकिक संस्कृत चल निकली थी तब भी पुरोहित-वर्ग में प्राचीन भाषा का ग्रन्थ-प्रणयन में प्रयोग चल रहा था। महाभारत जो जनता के लिये लिखी गई थी, ईसा के ५०० ई० पू० ही उसके कई भाग लौकिक भाषा में ही चल रहे थे। (उसकी समाप्ति परवर्त्ती काल में हुई)। हम जानते हैं कि ईसवी दूसरी शती पूर्व शुंगकाल में वाल्मीकि रामायण का संपादन हुआ था। वहाँ हम देखते हैं कि लौकिक संस्कृत भी लोक में उच्चवर्गों की भाषा रह गई थी। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि वेद की भाषा जब प्रचलित रही होगी तब वह समय निस्सन्देह १५०० ई० पू० से पहले का रहा होगा, क्योंकि लौकिक संस्कृत को ही विकास करने में काफी समय लगा होगा, जैसा कि भारतीय भाषाओं का विकास स्पष्ट करता है।

भाषा और प्रणयन वेद का प्रणयन एक बहुत लम्बे समय को आक्रांत करता है, पहले वेद एक ही था। कहते हैं कि कृष्ण द्वैपायन ने ही वेद का संपादन किया था। वेद को विभाजित करने के कारण ही उनका नाम वेदव्यास पड़ा था। हम यह नहीं कह सकते कि ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद कालक्रमानुसार संपादित किये गये हैं। वेदव्यास के समय में वेद की अलग अलग शाखाएं अलग अलग पुरोहित-घरानों में प्रचलित थीं। व्यास ने उन सबको एकत्र किया था। बहुत सी कविताएं ऋग्वेद और सामवेद में कौमन हैं। पुरुष सूक्त ऋग्वेद में है, उसमें १६ सूक्त हैं। यजुर्वेद में भी पुरुष सूक्त है, पर उन १६ के अतिरिक्त उसमें ६ सूक्त अधिक हैं। अतः हम ऋचाओं के कालक्रम को इस आधार पर नहीं ढूंढ़ सकते।

वेद की भाषा का ऐसा प्रकाण्ड पण्डित तो कोई नहीं है जो भाषा के आधार पर ही समय बता दे। परन्तु फिर भी भाषाविद् प्राचीन और नवीन का आमतौर पर निर्णय करते हैं। उनके अनुसार ऋग्वेद के प्रथम नौ मण्डलों की भाषा बहुत पुरानी है। दसवें में भाषा कुछ परवर्त्ती है। ऋग्वेद में कविताएं यानी ऋचाएं प्रमुख हैं। सामवेद गाया जाने वाला वेद है। उसमें ऋग्वेद की कई

ऋचाएं हैं। उसमें स्तुतियाँ हैं। यजुर्वेद में गद्य का अंश भी है, जो और भी परवर्ती माना जाता है। अथर्ववेद को अन्तिम माना जाता है। उसके बाद ब्राह्मण ग्रन्थ हैं, जिनके बाद आरण्यक ग्रन्थ माने जाते हैं।

प्रारंभ से विकास—वेद का प्रारम्भ कभी चरवाहों के गीतों के रूप में हुआ होगा। वे गीत मुंह ज़बानी याद रखे जाते थे। जिस प्रकार गोरखनाथ की अपभ्रंश भाषा जोगियों के मुख में धीरे-धीरे बदलती रही और आज जो गोरखनाथ की कविता कहलाती है वह वास्तव में गोरखनाथ की नहीं है, उसी प्रकार वेद की भाषा भी बदलती रही। कब उन गीतों का रूप स्थिर हुआ, हम नहीं जानते। किन्तु वेद में प्रारम्भ में स्तुतियां हैं, तथा जन-काव्य भी है। परवर्ती काल में पुरोहित कर्मकाण्ड उसमें बढ़ता गया। अथर्ववेद में जादू-टोना भी घुस आये। विद्वानों का कथन है कि पहले आर्य्य प्राकृतिक वस्तुओं के उपासक थे, वे जादू-टोना नहीं मानते थे। जादू-टोना उनमें अनार्य्यों के मिलन से आया। इस विचार को यूरोपियन इसलिये मानते थे कि उनके हिसाब से वे भी आर्य्य थे और आर्य्य सदैव श्रेष्ठ रहे थे। अनार्य्यपन भारतीयों से आर्य्यों में घुसा था। भारतीयों ने इस विचार को इसलिए अपनाया कि वे भी अपने अतीत को बहुत गौरवमय और श्रेष्ठ मानते थे। उनकी राय में भी अनार्य्य बहुत खराब लोग थे। परन्तु बाद में यह भ्रान्ति दूर होने लगी। लोगों ने देखा कि कुछ अनार्य्य जातियाँ भी बड़ी सभ्य थीं। बल्कि उनकी तुलना में आर्य्य ही बर्बर थे। उस प्राचीन काल में आर्य्य कोई जाति नहीं थी। आर्य्य एक संस्कृति थी। व्रात्मस्तोत्र प्रगट करता है कि अन्य लोग भी आर्य्य बनाये जाते थे। कई कबीले थे, कोई तुर्वसु, कोई भरत, कोई मद्र, कोई पञ्चाल के। बाद में इनके निवास-स्थानों के नाम इनके नामों पर ही पड़े। अलग-अलग कबीलों में अलग-अलग पुरोहित थे। सम्भव है, त्रिवेद मानने वाले कबीले अथर्ववेद माननेवाले कबीलों को सम्मान नहीं देते थे, किन्तु कालांतर में अथर्ववेद वाले कबीलों की कविताएं भी पूज्य मान ली गईं। हम यह भी स्पष्ट नहीं बता सकते कि चारों वेदों में कितना आर्य्य है, कितना अनार्य्य। संस्कृतियों का जब मिलन होता है, तब अंतर्भुक्ति अनेक रूपों में होती है। आर्यों के ही विभिन्न विश्वास अनार्य्य सम्बन्धों से मिलकर विभिन्न रूपों में प्रगट हुए, वे ही वेद हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पहले कबीला शिकार करता था। शिकार को सायं-काल इकट्ठा किया जाता था। बाँटा जाता था। खाया जाता था। अग्नि बीच में जलती थी। सबकुछ एक 'यूनिट' था। यह बाँटना 'दान' था। अग्नि जलाकर शीत-प्रदेश में तापा जाता था। उसे जलाये रखना पवित्र कार्य्य था। अग्नि की खोज ने मनुष्य को सभ्य बनाया था। यही 'यज्ञ' था। और सारा 'यूनिट' ब्रह्म था। कालांतर में यह 'यूनिट' बढ़ता गया। जब जब समाज का रूप बदला उस यूनिट का मूर्त्तीकरण हुआ और वही 'यूनिट' अन्त में विराट पुरुष बना और परवर्त्ती काल में दार्शनिक व्याख्या में 'निराकार महान सर्वोपरि' ब्रह्म। 'यज्ञ' का रूप बदला। ग्राम-ग्राम एकत्र हुए तो 'संग्राम' कहलाया। सत्र मिलकर लड़े, जाति का विकास हुआ और 'यज्ञ' अग्नि को जलाये रखने की जगह पुरोहित-वर्ग की उपासना का रूप बना। उसमें सामाजिक आवश्यकताएं बढ़ीं। शत्रु को लूटने का नाम 'अश्वमेध यज्ञ' पड़ा। इसी प्रकार अनेक यज्ञ रचे गये। पहले कबीले में 'पितर' ही प्रधान था। जब परिवार से काम नहीं चला तो कई पितर मिले। अथर्ववेद बताता है कि तब एक पितर गृहपति चुना गया। जब उससे भी काम नहीं चला तब गृहपतियों ने मिल कर आमंत्रण-यानी मन्त्रि-मण्डल बनाया। उसके बाद सभा बनी, जिसमें 'सभ्य' चुने गए। अन्त में राजा चुना गया। एक गोत्र वाला गण, धीरे-धीरे अपना विकास प्राप्त करता गया और जातियाँ बनीं। आपस में जो शिकार बंटते थे, वही 'दान' बाद में अपना रूप बदल गया और समाज में गरीबी अमीरी आ गई। अन्त में राज्यों में टक्कर होने लगी। वेद की कविता इस लम्बे समय का प्रतिनिधित्व करती है, जिसमें हम समाज की कई व्यवस्थाओं का विकास देखते हैं। वेद कोई इतिहास नहीं है। उसमें यत्र-तत्र ऐतिहासिक सूचनाएं प्राप्त हो जाती हैं।

वैदिक कविता किसी युग-विशेष की कविता नहीं। यह भी नहीं कहा जा सकता कि इतनी ही कविता तब-तब रची गई थी। यह संकलन तो हमें पुरोहित-वर्ग के हाथों से सम्पादित होकर मिला है। चरागाह के जीवन से 'राज्य' के उदय तक का काव्य हमें वेदों में प्राप्त होता है।

परवर्त्ती वैदिक काल में जब समाज की व्यवस्था बदल गई तब हमें याज्ञ-वल्क्य और अश्वल जनक आदि मिलते हैं जो शतपथ ब्राह्मण आदि में वैदिक

कर्मकाण्ड की आवश्यकता प्रमाणित करते हुए लौकिक व्याख्या करते हैं। उस समय वैदिक क्रिया-कर्म का सामाजिक उपयोग नहीं, वरन् धार्मिक रूप मिलता है। आरण्यकों में हमें उसी क्रिया-कर्म की दार्शनिक व्याख्या प्राप्त होती है। आगे चलकर षडदर्शनों में तत्कालीन स्थिरमतों के विरुद्ध विद्रोह भी प्राप्त होता है। अतः आवश्यक अत्र यह है कि हम वेद की विषय-वस्तु पर एक दृष्टिपात करें।

विषयवस्तु और लेखक—ऋग्वेद में दस मण्डल हैं। हर एक भाग में अनेक सूक्त हैं। कुल संख्या में वे १०२८ हैं। ऋग्वेद में अनेक प्रकार के छन्दों का प्रयोग हुआ है।* यह प्रगट करता है कि तत्कालीन कवियों को छन्द का ज्ञान अच्छा था।

प्रत्येक सूक्त किसी ऋषि द्वारा प्रगट हुआ है, अर्थात् कोई न कोई उसका रचयिता है। ऋग्वेद के लेखक निम्नलिखित ऋषि हैं—

१ मधुच्छन्द, २ जेत, ३ मेधातिथि, ४ शुनःशेष, ५ हिरण्यस्तूप, ६ कण्व, ७ प्रकाण्व, ८ सव्य, ९ नोध, १० पराशर, ११ गोतम, १२ कुत्स, १३ कश्यप, १४ ऋज्रस्व, १५ तृतास्य, १६ कक्षिवन्, १७ भावयव्य, १८ रोमश, १९ परुच्छेप २० दीर्घतमस, २१ अगस्त्य, २२ इन्द्र, २३ मरुत, २४ लोपामुद्रा (स्त्री), २५ गृत्समद २६ सोमहूति, २७ कूर्म, २७ विश्वामित्र (क्षत्रिय), २८ ऋषभ (जैनतीर्थङ्कर ?) २९ उत्कल, ३० कट, ३१ देवश्रवा, ३२ देवव्रत, ३३ प्रजापति ३४ वामदेव, ३५ अदिति (आदिमाता ?), ३६ त्रसदस्यु, ३७ पुरुमिल्ल, ३८ बुध, ३९ गविष्ठिर, ४० कुमार, ४१ ईश, ४२ सुतम्भरा, ४३ धरुण, ४४ पुरु

* अभिसारिणी, अनेक प्रकार के अनुष्टुप, अष्टि, अस्तरपंक्ति, अतिधृति, अतिजगति, अतिनिचृत, अत्यष्टि बृहति, चतुर्विंशतिक द्विपदी, धृति, द्विपदि विराज, एक पद त्रिष्टुभ्, एक पद विराज, गायत्री, संगति, ककुभ्, अनेक प्रकार के ककुभ्, कृति, मध्ये ज्योतिस्, महाबृहति महापद पंक्ति, महापंक्ति, शतोबृहति, महाशतो बृहति, नष्टरूपी, न्याकुंसारिणी, पदनिचृत, पद-पंक्ति, पंक्ति, पंक्त्युत्तर, पिपीलिका, मध्या, प्रगतश्रा, प्रस्तर-पंक्ति, प्रतिष्ठा, पुरस्ताद् बृहति, पुरौषणी शतोबृहति, स्कंधोग्रीवा, तनुशिरा, इत्यदि।

—रामदास गौड़, हिंदुत्व, पृ० २६

(क्षत्रिय ?) ४५ वव्रु, ४६ द्वित, ४७ प्रयस्वत, ४८ शश, ४६ विश्वसाम, ५० द्युम्न, ५१ विश्वचर्षणि, ५२ गोपवण, ५३ वसुयु, ५४ त्र्यारुण, ५५ अश्व-मेध, ५६ अत्रि, ५७ विश्ववार, ५८ गौरीरिति, ५६ बभ्र, ६० अवस्यु, ६१ गतु, ६२ समवरण, ६३ पृथु (क्षत्रिय ?), ६४ वसु, ६५ अत्रिभूय, ५६ अवत्सरादि, ६७ प्रतिक्षत्र, ६८ प्रतिरथ, ६६ प्रतिभानु, ७० पुरुहनमन, ७१ सुदीति, ७२ पुरु-मीड (क्षत्रिय ?) ७३ हर्यट, ७४ घुम्निक, ७५ गोपवन, ७६ सप्तवृध, ७७ विरूप ७८ कुरुसुति, ७६ कृस्नु, ८० एकद्यु, ८१ कुसीदी, ८२, कृष्ण, ८३ विश्वक, ८४ उषणात्कव्य (भृगु ?), ८५ नृमेध, ८६ अपाला (स्त्री), ८७ ध्रुतकक्ष, ८८ सुकक्ष ८६ विन्दु, ६० पूतदक्ष, ६१ तिरश्चि, ६२ ख्युत्तन, ६३ रेह जमदग्नि, ६४ नेम, ६५ प्रयोगयविष्ट, ६६ प्रस्कण्व, ६७ पुष्टिगु, ६८ श्रुष्टिगु, ६६ आयु, १०० मात-रिश्वा, १०१ कृश, १०२ पृषद्र, १०३ सुपर्ण (गरुड़ जाति का व्यक्ति ?), १०४ असित, १०५ देवल, १०६ दृढ़च्युत, १०७ इधमवाह, १०८ श्यावश्व, १०६ प्रभु-वसु, ११० रहूगण (क्षत्रिय ?) १११ बृहन्मति, ११२ अपास्य, ११३ कवि, ११४ उचथ्य, ११५ अवत्सार, ११६ अमहीयु, ११७ निध्नुवि, ११८ भृगु, ११६ वैखानस, १२० पवित्र, १२१ रेणु, १२२ हरिमन्त, १२३ बेन (क्षत्रिय !) १२४ अकृष्टभाष्या : अजा : १२५ प्रतर्दन (क्षत्रिय), १२६ व्याघ्रपाद, १२७ कर्णश्रुत, १२८ अम्बरीष (क्षत्रिय), १२६ रिजस्वा, १३० रेमसूनु, १३१ ययाति (क्षत्रिय) १३२ नहुष (नाग जाति का व्यक्ति), १३३ शिखण्डिनी, १३४ चक्षु: १३५ सप्तर्षि, १३६ गौरी (कामदेव अथवा शिव की पत्नी ?) १३७ रीति, १३८ ऊर्ध्वसद्म, १३६ कृतयक्ष ऋणञ्चय (यक्ष ?), १४० शिशु, १४१ त्रिशिरा [असुर जाति का व्यक्ति], १४२ यम, १४३ यमी (स्त्री), १४४ शङ्ख, १४५ दमन, १४६ देवश्रवा, १४७ मथित, १४८ संकुशुक, १४६ च्यवन, १५० वसुक्र, १५१ लुपा, १५२ घोपा (स्त्री), १५३ अभितया (स्त्री) १५५ सुहृत्य, १५६ सप्तगु, १५७ वैकुण्ठ, १५८ बृहदक्थ, १५६ माता सहित गोपायन [स्त्री और उसका पुत्र], १६० सुमित्र, १६१ नाभानेदिष्ट [क्षत्रिय ?] १६२ जरत्कारु [नागार्य्य–पिता आर्य्य-माता नाग जाति की स्त्री ?], १६२ स्यूमरश्मि [क्षत्रिय ?] १६३ विश्वकर्मा [तक्षण--बढ़ई जाति का व्यक्ति ?] १६४ मूध्न्व, १६५ शर-पात, १६६--तान्व, १६७ अर्बुद १६८ पुरुरवा [क्षत्रिय ?], १६६ उर्वशि [अप्सरा-

गन्धर्व जाति की स्त्री ?] १७० सर्वहरि, २७१ भिषज, १७२ देवापि [क्षत्रिय ?] १७३ वभ्र, १७४ दुवस्यु, १७५ मुद्गल, १७६ अप्रतिरथ, १७७ भूतांश, १७८ सरमा, [कुक्कुरी-अनार्य जाति की स्त्री ?] १७९ पाणि : जुहु [पणि एक जाति अनार्य्य], १८० राम [दाशरथि राम या अन्य ? क्षत्रिय ?] १८१ उष्ट्रदंष्ट्र, १८२ नभ प्रभेदन, १८३ शतप्रभेदन, १८४ साधि, १८५ धर्म, १८६ उपस्तुत, १८७ अग्निपूय, १८८ भिक्षु [भिखारी या नाम ?], १८९ उरुक्षय, १९० लव [राम के पुत्र ? या अन्य ?], १९१ बृहद्दिव, १९२ हिरण्यगर्भ, १९३ चित्रमहा, १९४ कुलमल, १९५ बर्हिष, १९६ विहव्य, १९८ यज्ञ, १९८ सुदास [क्षत्रिय] १९९ मानृधाता [क्षत्रिय], २०० ऋष्यश्रृंग [राम के बहनोई ?] २०१ वृषाणक, २०२ विप्रजूति, २०३ व्यङ्ग, २०४ विश्वावसु, २०५ अग्निपावक, २०६ अग्नितापस, २०७ द्रोण [क्षत्रिय ?], २०८ साम्बमित्र (क्षत्रिय ?), २०९ सुवेद, २१० पृथुवन्व, २११ मृद्रिका [स्त्री], २१२ श्रद्धा [स्त्री], २१३ इन्द्रमाता [स्त्री], २१४ शिरिम्बिथा [अनार्य्य स्त्री ?], २१५ केतु [असुर ?], २१६ भुवन, २७७ इत, २७८ यक्ष्मानशन्, २७९ रक्षोहा, २८० विनूहा, २८१ प्रचेता, २८२ कपोत, २८३ अनिला [स्त्री], २८४ शबर [अनार्य्य जाति का व्यक्ति ?] २८५ विभ्राज्य २८६ सम्वर्त, २८७ ध्रव, २८८ अभिवर्त, २८९ ऊर्ध्वग्रीवा, २९० पतङ्ग, २९१ अरिष्टनेमि [क्षत्रिय ?], २९२ शिवि [क्षत्रिय], २९३ सप्तधृति, २९४ श्येन [अनार्य्य जाति का व्यक्ति ?], २९५ सार्पराज्ञि, २९६ अघमर्षण, २९७ सवबन, २९८ प्रतिप्रभ, २९९ स्वस्ति, ३०० स्यवस्व, ३०१ श्रुतविद्, ३०२ राहहव्य, ३०२ यजट, ३०३ उरुचक्रि, ३०४ बहुवृक्त, ३०५ पौर [नागरिक ?] ३०६ अवस्यु, ३०७ सप्तवृध, ३०८ यवापमरुत्, ३०९ भरद्वाज, ३१० वीतहव्य, ३११ सुहोत्र [क्षत्रिय ?] ३१२ शुनहोत्र, ३१३ नर, ३१४ सम्पु, ३१५ गर्ग, ३१६ ऋजिस्वा, ३१७ पायु [नाम ठीक नहीं है ?], ३१८ वासिष्ट, ३१९ मैत्रावरुणी, ३२० वशिष्ट, ३२१ शक्त्रि, ३२२ वाशिष्टा [स्त्री], ३२३ आसङ्ग, ३२४ प्रगाथकण्व, ३२५ शस्वति, ३२६ देवातिथि, ३२७ ब्रह्मातिथि, ३२८ वत्स, ३२९ पुनर्वत्स, ३३० साध्वंश, ३३१ शशकर्ण, ३३२ सौभरि, ३३३ नारद [गंधर्व ?] ३३४ गोषूक्ति, ३३५ अश्वसूक्ति, ३३६ निपतिथि, ३३७ वैवस्वत मनु (आदि पुरुष ?), ३३८ विश्वमना, ३३९ इरिम्बिथि (अनार्य जाति

का व्यक्ति ?), ३४० सहस्त्रवसु, ३४१ रोविशा (स्त्री), ३४२ भर्ग, ३४३ कलि, ३४४ मत्स्य (मत्स्य जाति का अनार्य्य ? या आर्य्य ?), ३४५ मान्य, ३४६ श्यावाश्व, ३४७ नाभाग, ३४८ त्रिशोक ।

इस प्रकार ऋग्वेद अनेक कविगण की रचनाओं का संग्रह है ।

ऋग्वेद में विशेष रूप से युद्ध-वर्णन, स्तुतियाँ और प्रार्थनाएं हैं । निम्नलिखित देवताओं की स्तुतियाँ प्रमुख हैं, जिनका हम इस प्रकार विभाजन कर सकते हैं—

प्राचीन देवता,	[परवर्त्ती देवता-सम-कालीन फिर प्राचीन]	[प्राकृतिक वस्तु]	[वीर-महत्त्व पूर्णव्यक्ति वर्णन]	[अन्य] विश्वेदेव
अग्नि	इन्द्र	ऋतु	मित्रावरुण	सरस्वति
वायु	मरुत	सोम	अश्विनीकुमार	
वरुण	त्वष्ट्रा	द्यौ:	अपृह	दक्षिण
वरुणाणी	इन्द्राणी	पृथ्वी	ब्रह्मणस्पति	ऋभु
अर्यमा	बृहस्पति	पूषण	आयु :	अग्नषेयि
धाता	शचि	सविता	स्वनय	विष्णु
		उषा	रोमशा	विष्णु
		आदित्य		रुद्र
		सूर्य्य	आयलपत्	वाक्
		वैश्वानर	कपिञ्जल	काल
		सिंधु	सोमक	साध्य
		अन्न	वामदेव	रति
		वनस्पति	दधिन्क	यूप
		राका	उषण	उच्चै: श्रवस [अश्व]
		सिनिवाली	अत्रि	क्षेत्रपति
		पर्वत	प्रस्तोक	घृत [घी]
		सीता	पृष्णि	देवि
		पर्जन्य	वास्तोष्पति	पितु

धेनु	सरस्वा	
मृत्यु	चित्र	निऋ`ति
आत्मा	सोमयनमान	श्रद्धा
ज्ञान	सरमहापुत्रा:	माया भेद
ओषधय:	वैकुण्ठ	
अरण्यानि	तार्क्ष्य	

इससे प्रगट होता है कि ऋग्वेद् में अनेक वस्तुओं का वर्णन प्राप्त होता है।

सामवेद में ऋग्वेद की ही ऋचाएं अन्य क्रम से दी गई हैं। सामवेद में प्रार्थनाओं को गाया जाता है। जिन यज्ञों में सोमरस काम में लाया जाता था, वहीं सामगान होता था। इसके तीन संस्करण पाये जाते हैं— कौथुमी शाखा, जैमिनीय और राणायणीय। सामवेद में ७५ मन्त्र ऋग्वेद से अलग हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि पहले सामवेद में मन्त्र बने और बाद में ऋग्वेद में जोड़े गये।

यजुर्वेद में यज्ञकर्म की प्रधानता है। अश्वमेघ, स्वर्ग की इच्छा का यज्ञ, पुत्र्येष्टि यज्ञ, विजय कामना यज्ञ, आदि इसके अन्तर्गत हैं। इसमें राक्षस भी यज्ञ करते हैं। यजुर्वेद मे सामाजिक रूप बदला हुआ मिलता है। यजुर्वेद के दो पाठ हैं। शुक्ल यजुर्वेद में कारव, माध्यंदिन, जावाल, वुधेय, शाकेय, तापनीय, कापीस, पौंड्रवहा, आवर्त्तिक, परमावर्त्तिक, पाराशरीय, वैनेय, बौधेय, औधेय और गालव शाखाएं हैं—जो वाजसनेयी कहलाती हैं। कृष्ण यजुर्वेद में काठक, कपिस्थल-कठ, मैत्रायणी, और तैत्तरीय शाखाएं हैं। इन दोनों में कहीं-कहीं पाठ और उच्चारण-भेद है। इसमें देवताओं की स्तुति प्रधान नहीं, वरन् यज्ञकर्म प्रधान है।

अथर्ववेद व्यक्तिगत साधना परक है। इसकी नौ शाखाएं हैं— पैथलाद; शौणकीय, दामोद, तोतायन, जामल, ब्रह्मपालास, कुनरवा, देवदर्शी और चरणविद्या। इसमें बीस काण्ड हैं। उनके ३८ प्रपाठक हैं। इनमें ७६० सूक्त और ६००० मन्त्र हैं।

सायण के अनुसार ऋग्वेद होता के लिये है, यजुर्वेद अध्वर्यु के लिये, साम उद्गाता के लिये और अथर्व ब्रह्मा के लिये है। अथर्ववेद में वर्ण्य विषय सबसे अधिक विस्तृत है।

समस्या और टीकाकार—सारांश में चारों वेदों का यही परिचय है। संसार के किसी भी देश में इतने व्यापक साहित्य संकलन को इतनी श्रेष्ठता नहीं दी गई जितनी भारत में वेद को। क्या यह आश्चर्य्य की बात नहीं है कि जब से अब तक का ऐतिहासिक ज्ञान हमें पथ दिखाता है, हम वेदों को भारत में पूज्य माना जाता हुआ ही देखते हैं। इसका कारण यह बताया जाता है कि ब्राह्मणों ने वेद को अपनी समस्त श्रद्धा दी। और ब्राह्मण क्योंकि समस्त ज्ञान का प्रतिनिधि रहा, वेद भी जीवित रहे, वास्तव में यह एक खंड सत्य है। वेद तो भारतीय संस्कृति में प्रेरणा का एक विशाल स्रोत रहा है। प्रागैतिहासिक काल से आज तक वह भारत में पूज्य माना जाता है। इसका कारण यह है कि वेद अन्य जातियों के धर्म ग्रन्थों की भाँति एकांगी नहीं है। उनका संदेश बहुत व्यापक है। वेद को समझने के कई प्रयत्न हुए हैं। इससे पूर्व कि हम वैदिक काव्य पर अपना मत दें हमें उसके टीकाकारों पर दृष्टिपात करना चाहिये।

सर्वप्रथम हमें निघण्टु और निरुक्त मिलते हैं। निरुक्त यास्क ने लिखा था। निघण्टु की टीका देवराज यड्वा ने लिखी थी। विजयनगर साम्राज्य में रहने वाले सामणाचार्य ने तेरहवीं शती में वेद की टीका लिखी। प्रत्येक ने अपने पूर्ववर्त्ती टीकाकारों के नामों का उल्लेख किया है। सायण के उपरान्त महीधर की टीका है जिसमें वाममार्गी प्रभाव झलकता है, या कह सकते हैं कि महीधर ने वेद को समझने की वाममार्गी पद्धति को अपनाया। हम नहीं कह सकते कि उस प्राचीनकाल में जब कि स्त्रीपुमान संबंध अधिक मुखर थे, यह तमाम वाममार्गी पद्धतियाँ वेद के लोगों में प्रचलित नहीं थीं। इसके उपरान्त पाश्चात्य लेखकों ने वेद की टीकाएं लिखीं। किंतु सबसे महत्त्वपूर्ण दो टीकाकार हैं। स्वामी दयानन्द जिन्होंने वेदों का नया भाष्य किया। वे बड़े वैयाकरण थे, अतः हम नहीं कह सकते कि उनके वेदभाष्य को वेद का भाष्य माना जाये, या स्वामीजी का वह अपना दृष्टिकोण है। दूसरे हैं श्री अरविन्द, जिन्होंने सारे वेद को आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखा है। वह भी उनके मत का प्रतिपादन है। अभी तक हमारी राय में वेद का अर्थ समझने की जो कुंजी सायण में है, वह अन्यत्र नहीं है। हम उसी को अपना आधार मानकर चलना उचित समझते हैं।

— २ —

इतिहास के स्तर—किसी भी रचना का मूल्यांकन करने के पहले हमें उसके अन्तस्साक्ष्य को देखना चाहिये। वेद भी अपनी साक्षी देते हैं। ऋग्वेद के प्रारंभिक मण्डल की ऋचाएं पढ़ने से प्रतीत होता है कि जिस समय ऋषियों ने इन्हें गाया था, उस समय वे देवताओं में विश्वास करते थे। उनके आदिम देवता ये थे : अर्यमा, भग, वरुण, यम, अग्नि, अदिति, द्यावा और पृथ्वी। इन देवताओं के बाद इन्द्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, सूर्य्य, उषा, ब्रह्मणस्पति, ऋभुण, विश्वेदेवगण आदि की स्तुतियाँ मिलती हैं। इसके अनन्तर हमें कुछ लोगों के नाम मिलते हैं जो कि प्राचीनकाल के व्यक्ति माने गये हैं जैसे मनु, शुनःशेप, पुरुरवा इत्यादि। तब हमें वेद के समकालीन व्यक्ति मिलते हैं। एक बात और यह है कि कही हमें प्रारम्भ में देवताओं में जैसे इन्द्र है, उसका वर्णन जब मिलता है तब उसके साथ वह वैभव नहीं मिलता, जो बाद में अन्यत्र हुए इन्द्र के वर्णन में मिलता है। परवर्त्ती वर्णनों में इन्द्र का मनुष्यरूप नहीं दिखता, उसका देवत्व अधिक झलकता है। इस समस्या की सुलझन वास्तव में यों है कि—

(१) पहले असुराधिप वरुण के राज्य में सुर और असुर रहते थे। तब अग्नि और यम की भी उपासना होती थी।

(२) बाद में इन्द्र ने सुरों को साथ (देवों को साथ) लेकर विद्रोह किया और स्वराज्य स्थापित किया (१-१-५-१३- ८० ऋग्वेद)

(३) इस इन्द्र के उपरान्त कई इन्द्र हुए और इसीलिये उनका वैभव भी बढ़ता गया।

(४) कालांतर में यह सब पूर्वज पितर पूजा के कारण देवता बन गये और पूज्य होगये।

(५) इनके बाद के पूर्वज भी धीरे धीरे पूज्य माने गये, किन्तु वे देवता नहीं बन सके।

इन स्तरों के बाद ऋग्वेद की कविता का प्रणयन प्रारम्भ होता है। ऋग्वेद के १—६ मण्डल तक के समय में आर्यों के पूर्व तक प्रसार का काल है। इसी समय साम में कई मंत्र गाये जाते रहे। संभव है भिन्न ब्राह्मण-कुलों में उस समय भी यजुर्वेद और अथर्ववेद के कुछ अंश चलते थे।

१० वें मंडल ऋग्वेद के साथ हमें आर्यों का प्रसार बढ़ा हुआ मिलता है और फिर यजुर्वेद और परवर्त्ती काल में अथर्ववेद मिलते हैं, जिनके बाद ब्राह्मण तथा आरण्यक साहित्य का समय है। महाभारत का साक्ष्य यह है कि कृष्ण के समय तक उपमन्यु इत्यादि ऋचाएं बनाते थे। हम जानते हैं कि आरण्यकों में (छांदोग्योपनिषद्) कृष्ण को प्राचीन व्यक्ति कहा गया है। अत: आरण्यकों के पहले के युग तक ऋचाएं बनती थीं। सारांश में कह सकते हैं कि मनु से लेकर कृष्ण तक के युगों का समय ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद और अथर्ववेद का समय है और आरण्यक और ब्राह्मण ग्रन्थों का समय कृष्ण से लेकर बुद्ध से कुछ पहले तक के समय में फैला हुआ है।

इन समस्त युगों में क्या क्या इतिहास बीता इसका पूरा प्रमाण वेद में नहीं है। वेद का अन्तस्साक्ष्य जहाँ कई ऐतिहासिक घटनाओं की ओर इंगित करता है, वहाँ उससे आर्य्य अनार्य्य युद्ध का इंगित मिलता है। आर्य्यों को प्राचीन भारतीय राक्षस जाति से भी लड़ना पड़ा था [ऋ. वे. १. १. २. ५. २१. ५.] आर्य्यों ने यक्ष (जाति—प्राचीन भारतीय) को वेद में ब्रह्म कह कर यक्ष जाति में संपर्क स्थापित ही नहीं किया, वरन् वे उनसे प्रभावित भी हुए थे। सुपर्ण (गरुड जाति) अहि (नागजाति) सरमा कुक्कुरी (कुक्कुर जाति) आदि अनेक जातियों से आर्य्यों का सम्बन्ध हुआ था। गंधर्वों का उन पर गहरा असर पड़ा था। इसके अतिरिक्त सुदासा ने दाशराज्ञ युद्ध किया था। फिर जनक मिथि ने मिथिला के दलदल को मिटाकर देश बसाया था। आगे के ब्राह्मण ग्रन्थ बताते हैं कि विदर्भ तक आर्य्य बहुत पहले ही उतर गए थे। आगे वेद कहते हैं कि अश्वमेध आदि यज्ञ बढ़ गये थे और अनार्य्यों को लूटा जाता था। इसी प्रकार के अनेक उल्लेख प्राप्त होते हैं। यदि पुराणों और महाभारत के साक्ष्य को भी स्वीकार किया जाये तो पता चलता है कि मनु के समय में प्रलय आया था (यह कथा ब्राह्मण साक्ष्य भी प्राप्त करती है) मनु के समय से समाज की मर्यादा बदली।

पहले जहाँ छोटा समाज था, वह बड़ा हुआ। उस समय सेना 'राज्य' की रक्षा के लिए बनी। ब्राह्मणों में से कुछ ने शस्त्र धारण किये, वे क्षत्रिय बने। बाद में ब्राह्मणों और क्षत्रियों में परस्पर युद्ध हुआ। दोनों कमज़ोर हुए। तब दोनों में संधि हुई किन्तु परिणामस्वरूप पराजित अनार्य्यों में कुछ दास रह गए, बाकी शूद्र कहलाए और आर्य्यों में परस्पर धनी दरिद्र का भेद पैदा हो जाने से आर्य्यों का जन अर्थात् विश् वैश्य कहलाने लगा। ब्राह्मणों की सर्वाधिकार सत्ता समाप्त हुई। इन्द्र के समय में जो पितृसत्ताक व्यवस्था उठी थी वह बढ़ती गई और उसी का बोल-बाला हुआ। कालांतर में राम का राक्षसों से युद्ध हुआ और इस समय में आर्य्य अनार्य्य का जातीय भेद घट गया। अनार्य्यों की जातियों से आर्य्यों का सम्बन्ध बढ़ चला। और अन्ततोगत्वा दास प्रथा वाला समाज कृष्ण के समय में लड़खड़ा गया। उस समय वैश्यों की शक्ति बढ़ चली और वैदिक युग समाप्त होने लगा। दास प्रथा टूट चली। शुद्रों ने भी सिर उठाया। आर्य्य ब्राह्मणों और क्षक्षियों में अनार्य्य जातियों के पुरोहित वर्ग तथा योद्धा वर्ग क्रम से घुल मिल गए और छोटे-छोटे देवताओं के पीछे झगड़े बन्द हो चले। नये देवता और बड़े देवता उठ खड़े हुए। पेशे के हिसाब से श्रेणियाँ (Guilds) बनने लगीं जो जातियों के रूप में बदलने लगीं। चरागाहों से निकल कर ग्राम बसाने वाली संस्कृति नगरों के उत्थान के साथ अपना युग समाप्त कर गई। यही संक्षेप में वैदिक काव्य की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है।

सामाजिक विकास—वैदिक साक्ष्य से ही प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के रचनाकाल के पहले ही—

१] देवजाति आदिम साम्यवाद से विकसित होकर मातृसत्ताक समाज से होकर पितृसत्ताक समाज तक आ पहुँची थी। उस समय ऋषि और देव के अतिरिक्त तक्षण आदि नीची माने जाने वाली जातियाँ थीं।

२] मनु के समय तक सगोत्र विवाह प्रायः समाप्त हो चुके थे और समाज गण-गोत्रों में बँट चुका था। पितृसत्ता कठोर हो गई थी। इस समय तक प्राचीन देव जाति श्रद्धा के साथ 'देवियोनि' में मान ली गई थी और विभिन्न संस्कृतियों वाली प्राचीन नाग, असुर, गंधर्व, किन्नर, यक्ष, राक्षस आदि जातियाँ भी, जो कि देवजाति की समकालीन थीं, देवयोनि में मान ली जा चुकी थीं। स्त्री के

लिये अब पतिव्रत भावना समाज में प्राय: मानी जाती थी, यद्यपि कई गणों में स्त्री भी पुरुष की भाँति संभोग-स्वतंत्र थी। जो हार जाते थे वे दास बना दिये जाते थे।

३] आर्य्य गाँव बसाकर रहते थे। उनके शासक 'गढ़' बना कर रहते थे।

ऋग्वेद के समय से विकास आरण्यकों तक इस प्रकार हुआ—

१] पहले वर्णभेद नहीं के बराबर था। वह बढ़ चला। धनीदरिद्र का भेद भी बढ़ चला। खेती होती थी। पशु पालन होता था। घोड़े और गधे माल ढोते थे। रथों में धनी आदमी चढ़ते थे। शिकार के लिये कुत्ते बहुत रखे जाते थे। माँस बहुत खाया जाता था। पितर पूजा होती थी और देव पूजा भी। किंतु मूर्त्तियाँ नहीं बनती थीं। प्रकृति-देवताओं के रूप में पूजी जाती थी। गरीब आदमियों का जीवन कठिनता से बीतता था (ऋगवेद १।१४६।४३।। १।१०।३।। १।६०।५।। ८।५५।३।। १। १८३।३।। ७।१८।२३।। ३।४५।३।। ७।४६।२।। ३।५३। १५।। ८।८।११।। ८।५५।१४।।) आर्य्य खूब व्यापार भी करते थे [ऋ. वे. १।४८।३।। १।५६।२।। १।११६।५।।)

प्रारम्भ मे पुरु, तुर्वशस्, मद्रु, अनु, और द्रुह्यु आदि जन थे। भरत, गंधारि, उशीनरस् इत्यादि भी प्रसिद्ध थे। जाति-पाँति छूआछूत तब तक नहीं थी। समाज में क्रमश: श्रेणिया बनीं और वर्ण बने। अनार्य्यों से आर्य्यों का बहुत युद्ध हुआ। हारने वाले अनार्य्य दास बनाये जाते थे,

२] धीरे धीरे आर्य्यों में गण गोत्र पर निर्भर नहीं रहे। पिता वैद्य, माता पिसनहारी और पुत्र कवि बनकर परिवार में विविधता लाये [ऋ. वे. ६।११२। ३।।] पुनर्जन्म का सिद्धान्त विकसित होने लगा। राज्य बनने लगे। अश्वमेधों का युग आया। आर्य्यों का प्रसार होने लगा। देवताओं की दूरी मनुष्य से बढ़ने लगी और वे पहले की तरह दैनंदिन जीवन में अब नहीं रहे। वे श्रद्धापात्र बनने लगे। यज्ञ बढ़ चले। उस समय ब्राह्मण वर्ग का प्राधान्य बढ़ा।

३] उनके उपरान्त क्षत्रिय वर्ग का प्राधान्य बढ़ा जब लूट और धन की तृष्णा ने संगणित सैन्यदल को बढ़ाया। शूद्र समाज में बढ़ गये। अन्ततोगत्वा शूद्र को भी (पद्भ्यांशूद्रोऽजायत) समाज का अंग मानना पड़ा।

४] पहले जो समाज गृहपति, सभा, आमंत्रण तक सीमित था वह अब

'राजा' के बिना नहीं चलता था। किन्तु गण व्यवस्था काफी चलती थी और कई स्थलों पर गण गोत्रों पर भी जीवित थे। धीरे-धीरे ग्राम संस्कृति का विकास हुआ। ग्रामणी, सभा, समिति और आमंत्रण से मिलकर राजा राज्य करता था।

५] कालांतर में स्त्री 'क्षेत्र' बनी, पुरुष का 'बीज' ही निर्णायक हो गया। इस समय तक आर्य्यों में आसुर, गांधर्व, राक्षस आदि संस्कृतियाँ घुस आईं। उनकी विवाह पद्धतियाँ भी प्रचलित हो गईं। खेती अधिक होने लगी। खेतिहर जीवन में पशुओं का माँस अब वर्जित भी होने लगा, क्योंकि पशु-संहार व्यर्थ माना जाने लगा। अथर्ववेद में माँस मद्य का भोग आपत्तिजनक भी माना गया। श्रेणियों का विकास हो चला। सिक्का (निष्क) चलने लगा।

६] जाति-पाँति के भेद बढ़ चले। जीवन की प्रारम्भिक मस्ती का स्थान अब दुख लेने लगा क्योंकि समाज विषम हो चला। पुर्नजन्म की बात बढ़ी। परलोक का भय बढ़ चला। अनार्य्य जातियों के प्रभाव से 'तप' की भावना बढ़ चली।

७] परवर्त्ती वैदिक काव्य में शूद्र का स्थान भी बढ़ चला। (वाजसनेयि-संहिता—(२४।३०।३१) तैत्तिरीय संहिता (७।४।१६।३,४) काठक संहिता, अश्वमेध (४।१७।।) अथर्ववेद (१६।३२।८।। आर्य्य अब कहने लगे—मुझे···· ब्राह्मण और क्षत्रिय, आर्य्य और शूद्र····दोनों का प्यारा बनाओ। (अथर्ववेद १६।६२।१।।)।

८] धीरे-धीरे जाति प्रथा जटिल होती गई। वर्ण विभाजन बढ़ गया। स्त्रियों का पद गिरने लगा। उनकी स्वतंत्रता छिनने लगी। वे पुरुष गोष्ठियों से अलग रखी जाने लगीं। (संभवत: यह पुरानी खेतिहर दास प्रथा वाली अनार्य्य जातियों की संस्कृति की देन थी। राक्षसों में स्त्री को 'सम्पत्ति' की भाँति हरण का पात्र माना जाता था। यह प्रथा आर्य्यों में भी आ गई थी। परन्तु स्त्रियों का पद बिल्कुल ही नहीं गिरा था। वे ब्रह्मवादिनी भी होती थीं। अनार्य्य सम्पर्क से और विभिन्न आर्य्य विश्वासों के पारस्परिक सम्बन्ध से जादू-टोने का साहित्य भी पूज्य बनता जा रहा था।

९] अन्तिम काल में सामाजिक परिस्थिति बदल गई। अब आर्य्य अनार्य्य

का प्रश्न नहीं रहा। धनी दरिद्र का भेद मुख्य हो गया। आत्मा समान मानी गई और ब्रह्म के रूप में उस व्यापक परमात्मा को माना गया जो क्षुद्र बन्धनों से ऊपर था। जन्म के गुण की जगह मुक्ति अर्थात् मोक्ष के लिये सदाचार को सर्व-श्रेष्ठ माना गया। पुनर्जन्म के सिद्धान्त ने किसी भी शोषक वर्ग के व्यक्ति को यह भय दिखाया कि कल ही वह बुरे कर्मों के फल से निम्नवर्ग में जन्म ले सकता है। इस प्रकार निरंकुशता पर आघात हुआ। व्यक्ति के विकास के लिये योग-मार्ग और तप को श्रेष्ठ स्वीकार किया गया। कर्म के अनुसार जन्म, जीवन और मृत्यु की समस्या का हल प्रस्तुत किया गया। इस समय ग्राम व्यवस्था के ऊपर नागरिक व्यवस्था बढ़ रही थी। इतिहास, पुराण, व्याकरण, पित्त, राशी, दैव, निधि, वाकोवाक्य, देवविद्या, ब्रह्मविद्या, शिक्षा, कल्प, छन्दस्, भूत-विद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्र विद्या, सर्वविद्या, देवजन विद्या आदि का विकास हो चुका था। (छां. उ. ७।१।१।२।।) राज्य, साम्राज्य, भौज्य, स्वाराज्य, वैराज्य, पारमस्थ्य, माहाराज्य, आधिपत्य, स्वावाश्य आदि अनेक प्रकार की शासन पद्धतियों का विकास हो चुका था। (ऐतरेय ब्राह्मण ७।३।४।। ८।१२।४।।) विशाल साम्राज्य भी बनकर (ए. ब्रा. ८।१४।।) अब खण्डित हो चुके थे। यह महाभारत के साक्ष्य से प्रगट होता है।

यह है संक्षेप में सामाजिक जीवन का विकास जो वैदिक काव्य की पुष्ठभूमि है। इसके उपरान्त जहाँ एक ओर समाज व्यापकता की ओर बढ़ा वहाँ सूत्रकाल में उच्चवर्णों की संगठनात्मक संकीर्णता भी बढ़ी हुई मिलती है। सूत्रकाल के उपरान्त महाभारत काव्य का काल है जो संकीर्णता पर व्यापकता की विजय का सूत्रपात करता है। किन्तु हमारी विवेच्य वस्तु के काल के बाहर की वस्तु है, अतः उस पर विस्तार से विवेचन नहीं करेंगे।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि वैदिक काव्य की पृष्ठभूमि में उस विकास का चित्र है जिसमें हम ग्राम सभ्यता के अन्त तक आ पहुंचते हैं।

काव्य—ऋग्वेद की ऋचाएं यद्यपि व्यक्तियों ने कही हैं जिनमें हम प्रथम पुरुष में कवि को पाते हैं किन्तु प्रभाव हमें सामूहिक ही मिलता है।

परेहि विग्रमस्तृत मिन्द्रं पृच्छा विपश्चितं।
यस्ते सखिभ्य आवरम् [१. १. १. २. ४. ४.]

हिसा द्वेषरहित और प्रतिभाशाली इन्द्र के पास जाओ और मुझ मेधावी की कथा जानने की चेष्टा करो। वही तुम्हारे बन्धुओं को उत्तम धन देते हैं।

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत।
दधाना इन्द्र इद्रदुवः ॥ (वही, ५)

सदा इन्द्र-सेवक हमारे सम्बन्धी पुरोहित लोग इन्द्र की स्तुति करें और इन्द्र के निन्दक इस देश और अन्य देशों से भी दूर हो जायें।

यहाँ हम कवि को जीवन संघर्ष मे योद्धा के समान ही देखते हैं। यह कविता आवश्यकता से प्रभावित हुई है।

मा नोमती अभिद्रुहन्त नूनामिन्द्र गिर्बरण :।
ईशानो यवया वधम्।
[ऋ. वे. १. १. १. २. ५. १०]

हे स्तवभीय इन्द्र ! तुम सामार्थ्यवान् हो। ऐसा करना कि, विरोधी हमारे शरीर पर आघात न कर सकें। हमारा वध नहीं होने देगा।

यद्यपि यह देवता की स्तुति है किन्तु ऋगवेद में प्रायः ही बड़े ही सशक्त देववर्णन आये हैं जिनमें ओज बहुत ही प्रभावशाली है। हम एक सजीव चित्र देखते हैं—

सुसमिद्धो न आवह······उपह्वये [ऋ. वे. १. १. १. ४. १३] में कवि (कराव पुत्र) मेधातिथि कहता है—(गायत्री छन्द है—

हे सुखमिद्ध नामक अग्नि ! हमारे यजमान के पास देवताओं को ले आओ।

पावक ! देवाह्वानकारी ! यज्ञ सम्पादन करो। हे मेधावी तनूनपात् नामक अग्नि ! हमारे सरस यज्ञ को, आज उपभोग के लिए देवों के पास ले जाओ। *इस यजन देश में, इस यज्ञ में, प्रिय, मधुजिहव, और हव्य संपादक नराशंस* नामक अग्नि को हम आह्वान करते हैं। हे इलित अग्नि ! सुखकारी रथ पर देवों को ले आओ। मनुष्यों द्वारा तुम देवों को बुलाने वाले समझे जाते हो।.... सौन्दर्यशाली रात्रि और उषा को अपने इन कुशों पर बैठने के लिये, यज्ञ में, हम बुलाते हैं।

समस्त चित्र में हम देवताओं को दैनंदिन जीवन में मनुष्य के बहुत ही समीप ही पाते हैं।

शुनः शेप ने जिसे पिता अजीगर्त ने हरिचन्द्र के पुत्र रोहित के स्थान पर वरुण को बलि देने को दे दिया था, वरुण की बहुत ही सुन्दर स्तुतियाँ गाई हैं। [ऋ. वे. १. १. २. ६. २४. के सूक्त तथा आगे के भी कुछ सूक्तों को चुनकर हम यहाँ प्रस्तुत करते हैं।]

वरुण देव ! ये उड़ने वाली चिड़ियाँ तुम्हारे समान बल और पराक्रम नहीं प्राप्त कर सकीं। तुम्हारे सदृश इन्होंने क्रोध भी नहीं प्राप्त किया। निरन्तर विहरणशील जल और वायु की गति भी तुम्हारे वेग को नहीं लाँघ सकी। (६) पवित्र बलशाली वरुण आदि-रहित अन्तरिक्ष में रहकर श्रेष्ठ तेजपुंज को ऊपर ही धारण करते हैं। तेजःपुंज का मुख नीचे और मूल ऊपर है।* उसीके द्वारा हमारे प्राण स्थिर रहते हैं। (७) देवराज वरुण ने सूर्य्य के उदय और अस्त के गमन के लिये सूर्य्य के पथ का विस्तार किया है। पाद रहित अन्तरिक्ष प्रदेश में सूर्य्य के पाद-विक्षेप के लिये वरुण ने मार्ग दिया है। वह वरुणदेव मेरे हृदय का वेध करने वाले शत्रु का निराकरण करें। (८) ××ये जो सप्तर्षि नक्षत्र हैं, जो ऊपर आकाश में संस्थापित हैं और रात्रि आने पर दिखाई देते हैं, दिन में कहाँ चले जाते हैं ? वरुणदेव की शक्ति अप्रतिहत है। उनकी आज्ञा से रात्रि में चन्द्रमा प्रकाशमान होते हैं। (१०) तुम अनन्त जीवों के प्रार्थनापात्र हो, मेरी आयु मत लो (११)।

---

* ऊर्ध्वमूल अबूवत्थ का प्रारम्भ यहीं है। कालांतर में यक्ष का पर्य्याय वृक्ष इसी भावना से मिलकर भारतीय विचार धारा में उतर आया है।

शुनःशेप की कथा अत्यन्त करुण है। दरिद्र पिता है, माता और भाई भूखे हैं। पिता को उस युग में पुत्र पर पूर्ण अधिकार है। पिता मोह से शुनः पुच्छ (बड़े लड़के) को नहीं देता। माता शुनो लांगूल (छोटे बेटे) को नहीं देती। वध के लिए गायों के बदले मंझला दे दिया जाता है। वह यूप से बंध कर प्रार्थनाएं गाता है जब कि स्वयं उसका पिता उसकी वलि देने को खड़ा है। वह स्तुति करता है—

इन्द्र के जो घोड़े खा लेने के वाद फर फर शब्द के साथ हिनहिनाते और घहराता साँस छोड़ते हैं, उन्हीं के द्वारा इन्द्र ने सदा धन जीता है। कर्मठ और दान-परायण इन्द्र ने हमें सोने का रथ दिया था।

अश्विनीकुमार द्वय ! अनेक घोड़ों से प्रेरित अन्न के साथ आओ। शत्रु-संहारी ! हमारे घर में गायें और सोना आवें।

शत्रु-नाशक अश्विद्वय ! तुम दोनों के लिये तैयार रथ विनाश-रहित है। यह समुद्र या अन्तरिक्ष में जाता है। तुमने अपने रथ का एक चक्र अविनाशी पर्वत के ऊपर स्थिर किया है और दूसरा आकाश के चारों ओर घूम रहा है।

और अन्त में वह बन्धन खोलने वाली उषा से कहता है—

हे स्तुति प्रिय अमर उषा ! तुम्हारे सम्भोग के लिए कौन मनुष्य है ? हे प्रभाव सम्पन्न ! तुम किसे प्राप्त होगी ? हे व्यापक और विचित्र प्रकाशवती उषा ! हम दूर या पास से तुम्हें नहीं समझ सकते। हे स्वर्ग पुत्री ! उन अन्न के साथ तुम आओ, हमें धन प्रदान करो। (अनुवाक् ७ तक यह स्तुतियाँ समाप्त हो जाती हैं।)

स्तुतियों में पुराने वीर-कर्म सदैव दुहराये जाते हैं। किन्तु क्योंकि वे वीर कर्म प्रशस्ति के रूप में एक अतीत की घटना के रूप में उल्लिखित-मात्र होते हैं वे अपना पराक्रम उतना नहीं छोड़ते जितना आतंक। हो सकता है प्राचीनकाल का व्यक्ति उनसे अनुप्राणित होता था, क्योंकि उसमें श्रद्धा की भावना पहले से विद्यमान रहती थी, परन्तु परवर्त्ती काल में भारतीय कवि गण उससे अनुप्राणित नहीं हुए। इन्द्र का वीर रूप आगे के युग में जीवित नहीं रहा। इन्द्र विलासी और जार के रूप में अधिक याद किया गया।

अग्नि की उपासना में अधिक स्नेह की भावना मिलती है।

कण्वपुत्र प्रस्कण्व कहता है : प्रभावान और धनशाली अग्नि ! तुम सबके दर्शनीय हो। तुम पूर्वगामिनी उषा के बाद दीप्त हो। तुम ग्रामों के पालक यज्ञों के पुरोहित और वेदी के पूर्व दिशा स्थित मनुष्य हो। XX जब यज्ञ के पुरोहित--रूप से तुम देवों का यज्ञ-कर्म स्थापित करते हो, तब समुद्र की प्रकृष्ट ध्वनि से युक्त तरंग की तरह तुम्हारी शिखाएं दीप्तिमती रहती हैं

(ऋ० वे० १-१-३-६-१०-१२)

प्रस्कण्व ने (१. १. ४. ६. ४८) उषा का बहुत सुन्दर वर्णन किया है—

हे देवपुत्री उषा ! हमें धन देकर प्रभात करो। विभावरी उषाकाल देवता ! प्रभूत अन्न देकर प्रभात करो ! दानशीला होकर पशु रूप धन प्रदान पूर्वक प्रभात करो। उषा अश्व-संबलिता, गोसम्पन्ना, सकल धनदात्री है। प्रजा के निवास के लिये उसके पास विविध सम्पत्तियाँ हैं। ×× उषा पहले प्रभात करती थीं और अब भी प्रभात करती हैं, जिस प्रकार धनाभिलाषी समुद्र में नाव प्रेरित करते हैं, जिस प्रकार उषा के आगमन में रथ तैयार किये जाते हैं, उसी प्रकार उषा रथ-प्रेरयित्री हैं। × × उषा घर का काम संभालने वाली गृहिणी की तरह सबका पालन करके आती है। वह जंगम प्राणियों की परमायु का ह्रास करती है। पैर वाले प्राणियों को चलाती है और पक्षियों को उड़ाती है। × × तुम नीहार-वर्षी हो और अधिक क्षण नहीं ठहरतीं। अन्नयुक्त यज्ञ सम्पन्ना उषा ! तुम्हारे आगमन पर उड़ने वाले पक्षी अपने नीड़ों में नहीं रहते। उषा ने रथयोजित किया है। यह सौभाग्य-शालिनी उषा दूर से, सूर्य्य के उदय-स्थान के ऊपर से या दिव्यलोक से, सौ रथों द्वारा मनुष्यों के पास आती है। उषा के प्रकाश के लिये समस्त प्राणी नमस्कार करते हैं। क्योंकि यही सुनेत्री ज्योति प्रकाश करती है और यही धनवती स्वर्गपुत्री द्वेषियों और शोषकों को दूर करती है। स्वर्गतनया उषा ! आह्लादकर ज्योति के साथ प्रकाशित हो, अनुदिन हमें सौभाग्य दो और अंधकार दूर करो। नेत्री उषा ! विशाल रथ पर आना। विलक्षण रथ-सम्पन्ना उषा ! हमारा आह्वान सुनो !

ऐसे ही ५० वें सूक्त में सूर्य्य का वर्णन है—

सूर्य्य प्रकाशमान हैं और सारे प्राणियों को जानते हैं। उनके घोड़े उन्हें

सारे संसार के दर्शन के लिये ऊपर ले जाते हैं। सारे संसार के प्रकाशक सूर्य्य का आगमन होने पर नक्षत्रगण चोरों की तरह, रात्रि के साथ चले जाते हैं। दीप्तिमान अग्नि की तरह सूर्य्य की सूचक किरणें समूचे जगत् को एक-एक करके देखती हैं। सूर्य्य; तुम महान् मार्ग का भ्रमण करो, तुम सारे प्राणियों के दर्शनीय हो, ज्योति के कारण हो। तुम समस्त दीप्यमान अंतरिक्ष में प्रभा का विकास करते हो। तुम शुद्ध देवों के सामने उदित हो। मनुष्यों के सामने उदित हो। समस्त स्वर्ग लोक के दर्शन के लिये उदित हो। हे संस्कारक और अनिष्टहन्ता सूर्य्य! तुम जिस दीप्ति द्वारा प्राणियों के पलक बन कर जगत को देखते हो, हम उसी की प्रार्थना करते हैं।

आङ्गिरस सव्य ने इन्द्र की बड़ी ओजस्वी प्रशस्ति कही है (१-१-४-१०-५२) यह उस युग की रचना है जब इन्द्र आकाश का देवता भी मान लिया गया है और अतीत की ऐतिहासिक घटनाएं अब चमत्कारों से रंग गई हैं—

इन्द्र ने आवरणकारी शत्रुओं को जीता। इन्द्र जल की भाँति अन्तरिक्ष में व्याप्त हैं। इन्द्र सब के हर्षमूल हैं। XX जिस प्रकार समुद्र की आत्मभूता और अभिमुखगामिनी नदियाँ समुद्र को पूर्ण करती हैं, उसी प्रकार कुशस्वित सोमरस, दिव्यलोक में, इन्द्र को पूर्ण करता है। XX जिस प्रकार गमनशील जल नीचे जाता है, इसी प्रकार इन्द्र के सहायक मरुद्गण सोमपान द्वारा हृष्ट होकर युद्धलिप्त इन्द्र के सामने वृष्टि-सम्पन्न वृत्र के निकट गये। XX जल रोक कर जो वृत्र अंतरिक्ष के ऊपर सोया था और जिसकी वहाँ असीम व्याप्ति है, इन्द्र! जिस समय तुमने उसी वृत्त की कुहनियों को शब्दायमान वज्र द्वारा आहत किया था, उस समय तुम्हारी शत्रु विजयिनी दीप्ति विस्तृत हुई थी और तुम्हारा बल प्रदीप्त हुआ था। X X तुमने हमारे देखने के लिए आकाश में सूर्य्य स्थापित किया! इन्द्र! अभिधुत सोम पान करके तुम्हारे दृष्ट होने पर जिस समय तुम्हारे वज्र ने द्युलोक और पृथ्वी-लोक के बाधक वृत्र का मस्तक वेग से छिन्न किया था, उस समय बलवान आकाश भी उस अहि के शब्द-भय से कम्पित हुआ था। यदि पृथ्वी दस गुनी बड़ी होती और यदि मनुष्य सदा जीवित रहते, तब तुम्हारी शक्ति, प्रकृत रूप में सर्वत्र प्रसिद्ध होती! इस व्यापक अन्तरिक्ष के ऊपर रह कर निज भुज-बल से तुमने, हमारी रक्षा के लिये, भूलोक की सृष्टि की है। X X

जिन इन्द्र की व्याप्ति को द्युलोक और पृथ्वीलोक नहीं पा सके हैं, अन्तरिक्ष के ऊपर का प्रवाह जिनके तेज का अन्त नहीं पा सका है, इन्द्र ! वही तुम अकेले अन्य सारे भूतों को अपने वश में किए हुए हो। (५५) आकाश की अपेक्षा भी इन्द्र का प्रभाव विस्तीर्ण है। महत्त्व में पृथिवी भी इन्द्र की बराबरी नहीं कर सकती। भयावह और बली इन्द्र मनुष्यों के लिए शत्रु को दग्ध करते हैं। जैसे सांड़ अपने सींग रगड़ता है, उमी प्रकार तीक्ष्ण करने को इन्द्र अपना वज्र रगड़ते हैं। + + (५६) जिस प्रकार धनाभिलाषी वणिक् घूम घूम कर समुद्र को चारों ओर व्याप्त किये रहते हैं, उसी प्रकार हव्य-वाहक स्तोता लोग चारों ओर से इन्द्र को घेरे हुए हैं। जिस प्रकार ललनाएं, फूल चुनने के लिए, पर्वत पर चढ़ती हैं, उसी प्रकार हे स्तोता ! एक तेज-पूर्ण स्तोत द्वारा प्रवृद्ध, यज्ञ के रक्षक, बलवान् इन्द्र के पास शीघ्र पहुँचो !

ऋषि त्रित ने विश्वेदेवगण की स्तुति की है। (१. १. ७. १५. १०५ त्रिष्टुप् , यवमध्या महाबृहती और पंक्ति छन्द हैं)

जलमय अन्तरिक्ष में वर्त्तमान चन्द्रमा, सुन्दर चन्द्रिका के साथ आकाश में दौड़ते हैं। सुवर्ण—नेमिरश्मियो, कूप में पतित हमारी इन्द्रियाँ तुम्हारा पद नहीं जानतीं। घावा पृथ्वी, हमारे इस स्तोत्र को जानो ! ×× हमारे स्वर्गस्थ पूर्व पुरुष स्वर्ग से च्युत न हों ! हम कहीं सोम पायी पितरों के सुख के लिये पुत्र से निराश न हों ! × × सूर्य्य द्वारा प्रकाशित इन तीनों लोकों में ये देववृन्द रहते हैं।

और कवि पूछता है—

हे देवगण ! तुम्हारा सत्य कहाँ है ? और असत्य कहाँ है ? तुम्हारी प्राचीन आहुति कहाँ है ?

किन्तु यहाँ अविश्वास नहीं है। यह तो उलाहना है।

क्रमशः हम देखते हैं कि इन स्तुतियों, प्राचीन घटनाओं की प्रशस्तियों, यज्ञ-क्रियाओं के बीच में मनुष्य की चिंतना बोलने लगती है।

[ऋ. वे. १० अ ८। अ० ७। व० १७] नासनीय सूक्त इसका प्रमाण है। कवि कहता है—न तव सत् था, न असत्, न तब रज ही था। केवल अन्धकार

था और जल था। न मृत्यु थी, न जीवन था। तब इच्छा हुई और फ़िर सृष्टि हुई।

कवि कहता है—सच कौन जानता है यह सृष्टि कहाँ से आई। देवताओं की सृष्टि पीछे की है और यह सृष्टि पहले आरम्भ हुई (कितना बड़ा सत्य समझा था कवि ने ? इसे कौन जानता है ? कोई जानता भी है या नहीं ?

> ओ अद्धावेद क इह प्रवोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टि :
> अर्वाग्देवा अस्य विसर्चनेनाथा को वेद यत आब भूब।
> इयं विसृष्टिर्यत आब भूव यदि वा दधे यदि वान :
> यो अस्याध्यक्ष: परमे व्योमन्त्सो अङ्गवेद यदि वान वेद।

इस मनीषा के बीज ने धीरे-धीरे वैदिक काव्य में पल्लवित होना प्रारम्भ कर दिया और तब मेधावियों ने सृष्टि के मूल रहस्यों से अपनी सत्ता का तादात्म्य जोड़ना भी प्रारम्भ कर दिया।

और सामवेद (प्र. ६. २।८) में कवि गाता है—

> अग्निर्ज्योतिर्ज्योति रग्निरिन्द्रो ज्योतिर्ज्योतिरिन्द्र :
> सूर्य्यो ज्योतिर्ज्योति सूर्य्या।

अग्नि ज्योति है, ज्योति ही अग्नि है। इन्द्र ज्योति है, ज्योति ही इन्द्र है। सूर्य्य ज्योति है, ज्योति ही सूर्य्य है।

हे अग्नि ! तू अपनी इषा (ज्ञान) ऊर्जा (रस) और आयुषा (जीवन) रूप से बार बार प्रगट हो।

यहा हम अग्नि का एक चेतनतर रूप पाते हैं जो कि अधिक सूक्ष्म होता जा रहा है। प्रजापति ऋषि का यह दृष्टिकोण पहले की भाँति केवल माँगने तक सीमित नहीं रहा है।

अब यजुर्वेद के यज्ञ विधान, समिधा, वेदी, कुशमार्जन, अग्न्याधान, आहवनीय, अग्निहोत्र, सोमयाग, यूपस्थापन, प्रायश्चित्त, वाजपेय यज्ञ, अश्वमेध, सौत्रामणि यज्ञ, और सर्वमेध यज्ञ के कोलाहल के बीच हम तत्कालीन मनुष्य की सृष्टि की व्याख्या सुनते हैं जो पुरुष सूक्त के नाम से प्रसिद्ध है। यह ऋग्वेद और यजुर्वेद दोनों में ही है। किन्तु रचना के गांभीर्य्य को देखकर, सामाजिक विकास के चरणों को देखते हुए यही लगता है कि यह मूलत: परवर्त्ती है, यजुर्वेदीय रचना

है जो कि बाद में व्यास द्वारा ऋग्वेद में भी रख दी गई है।

पुरुष सूक्त एक बहुत ही श्रेष्ठ कविता है, जो संसार की कविता में अपना बहुत ऊँचा स्थान रखती है। यहाँ ब्राह्मण, क्षत्रिय, शूद्र आदि की अवस्था ही सब कुछ नहीं है, इसमें बड़ी ऊँचाई से, गहन गम्भीर चिंतन से, बड़ी अनुभूति से वर्णन किया गया है। इसमें हमें उस समस्त दर्शन की नींव मिल जाती है जो परवर्त्ती काल में विकसित हुआ है। यहाँ हम उसका संक्षिप्त परिचय देते हैं।

"उस पुरुष के सहस्त्र नेत्र, सहस्त्र हाथ तथा सहस्त्र पग हैं। वह सब में व्याप्त है। वही भूत भविष्य वर्त्तमान का रूप है। वही है और कोई नहीं है। समस्त विश्व उसके एक पाद में ही है। प्रकाश गुण वाला उससे तिगुना है। वह पुरुष त्रिपाद् से भी ऊर्ध्व है। यह जगत् उसीसे जन्मा है। एक यहाँ सजीव है, दूसरा जड़ है। जीवन के उपरान्त यहाँ वैराग्य का उत्थान होता है। उसमें राजा नहीं है। वही प्राणी बसते है, पुर बनाते हैं। वे फिर यज्ञ करते हैं। यज्ञ से भोजन वस्त्र जल मिलते हैं। पशु, पक्षी, वन, अरण्य, ग्राम्या भी यज्ञ से ही उत्पन्न होते हैं। यज्ञ से ऋक्, साम, यजुस् और छन्दस (अथर्ववेद) का जन्म होता है। घोड़े, गाय, अजा सब उसीसे पैदा हुए हैं। यज्ञ ही प्रथम है। उसी की देवों, साध्यों और ऋषियों ने उपासना की थी।

वह यज्ञ पुरुष विराट है। उसके मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, उरु से वैश्य और पदों से शूद्र जन्मे हैं।"

इससे आगे का भाग बहुत ही काव्यमय है क्योंकि उसमें बीच बीच में कल्पना की ऊँची उड़ान हैं।

"पुरुष के मनसे चन्द्रमा का जन्म हुआ। और चक्षुओं से सूर्य्य निकला। कानों से आकाश और प्राण से वायु हुई। मुख से अग्नि निकली। इसके अत्यन्त सूक्ष्म सामर्थ्य से अन्तरिक्ष जन्मा है और आकाश के सूर्य्यादि भी बने हैं। उसके चरण भूमि है। कानों से दिशाएँ हैं और उसने ही सबकुछ रचा है।

पुरुष से उत्पन्न ब्रह्माण्ड एक यज्ञ की भाँति है। देवों ने उसे किया। इसमें वसन्त ऋतु आज्य (घी) के समान है। ग्रीष्म ईंधन की भाँति है और शरद् ऋतु हवि की भाँति हैं। एक-एक की सात-सात परिधियाँ हैं, और २१ समिधाएँ हैं। देवों ने पुरुष पशु की बलि देकर यज्ञ किया।

यज्ञ से यज्ञ जन्मा । जहाँ पहले देव गये थे वहीं महिमामय भी स्वर्ग जाते है ।

पुरुष ने पृथ्वी को रस, अग्नि को मिला कर रचा है। इस मनुष्य देह को रच कर वह भी 'देव' कहाता है।

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्य वर्णं तमसः परस्तात्
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पंथा विद्यतेऽयनाय ।

ज्ञान कहता है वही पुरुष महान् है, आदित्य वर्ण है, तम के परे है। उसी की जानने से मृत्यु भी पराजित होती है, और कोई रास्ता नहीं है।"

यह विश्वास और श्रद्धा ही नहीं, एक निरन्तर व्यापक होता हुआ दृष्टिकोण है जिसने आगे चल कर उपनिषदों के महान् ब्रह्मवाद को इतना बड़ा आधार प्रदान किया।

पृथ्वी सूक्त वेद की एक और महत्त्वपुर्ण रचना है।

इस लम्बे विकास में जहाँ हम वाह्य सामाजिक कार्य्य क्रमों को देखते हैं हम मनुष्य की उन श्रेष्ठ जिज्ञासाओं को भी पाते हैं जो उसे निरन्तर उन मानवीय मूल्यों की ओर खींचे ला रही हैं जो कि उपनिषदों में विकसित हुए हैं जहाँ पितृहीन सत्य काम को दासीपुत्र जानकर भी ऋषि पीछे नहीं धकेल देते वरन् दीक्षा देते हैं। उपनिषदों की ब्रह्मचर्चा की पृष्ठभूमि वेदों में हमें तैयार मिलती है, इसलिए परवर्त्ती काल के ऋषियों ने वेदों से निरन्तर प्रेरणा प्राप्त की है और अपना मार्ग बनाते समय सदैव पीछे मुड़ मुड़कर देखा है। इसका कारण क्या है? कारण है कि वेद केवल आर्य्य संस्कृति नहीं है। इसमें अनेक जातियों के विश्वास हैं, अनेक उपासनाएं अन्तर्भुक्त हुई हैं। इसमें यक्ष संस्कृति है, गांधर्व अग्नियों को भी उपासना है। बल्कि आज हम इतनी दूर हैं कि स्पष्ट कह ही नहीं सकते कि किसकी इसमें कितनी देन है। आज बहुत दूर से जो बहुत से आर्य्य नाम लगते हैं, क्या वे अपनी वास्तविकता में भी आर्य्य नाम ही हैं। आश्रम विभाजन की मर्यादा हम स्पष्ट जानते हैं कि असुरों से सीखी गई थी। परन्तु उसे यजुर्वेद में स्वीकार कर लिया गया है। उञ्छवृत्ति धारण्य नागों और सूर्य्योपासकों ने, नारायणोपासकों ने अहिंसा पर जोर दिया था, जो हमें अथर्ववेद में मिलता है। बल्कि वेद में तो हम ऋषभदेव को भी पाते हैं, जो कि जैनों के आदि तीर्थङ्कर

हैं। यदि इस दृष्टिकोण से हम देखें तो समझ सकते हैं कि इस विशाल साहित्य संकलन को अन्य अनार्य्य जातियों ने कालांतर में क्यों स्वीकार कर लिया। और भी समय व्यतीत होने पर युग की समस्याएं बदल जाने पर वेद का और भी कम अंश परवर्त्ती मनीषियों ने स्वीकार किया। भारतीय संस्कृति ने अतीत का तिरस्कार अपना लक्ष्य नहीं बनाया। उसने अतीत के श्रेष्ठतम अंशों को स्वीकार करने में ही अपने विकास को आगे बढ़ाया है। हम यह भी जानते हैं कि वेद के नाम पर असाम्य को समाज में जीवित रखा गया था, किन्तु इतने ही की जानकारी से संस्कृति के व्यापक रूप का अन्त नहीं हो जाता। हम यह भी तो देखते हैं कि असाम्य का रूप धीरे धीरे बदलता गया है और उसके लिए परवर्त्ती काल में अन्य कारण भी अपना उत्तरदायित्व रखते हैं।

वैदिक काव्य के दो पक्ष हैं।

१] एक पक्ष में वह युग परक है। जीवन के अपने अनेक व्यवहार हैं, रीति-रिवाज हैं। उनकी आवश्यकताओं के अनुरूप कविताएं हैं। वेदी बनती है, गीत उठता है, समिधा आती है, गीत उठता है, यज्ञ का घोड़ा छोड़ा जाता है, गीत उठता है। कोई अपनी बीमारी से बचने को प्रार्थना है, कोई अभिचार करता है। कोई वशीकरण। बीच बीच में दवाएं भी बनती हैं। शस्त्र भी बनते हैं। राजकाज की बात भी आती है। दैनंदिन जीवन का भी वर्णन है, उपनयन है, विवाह है और भी न जाने ऐसी कितनी कितनी बातें हैं। काव्य का प्रयोजन इस युग में क्या है ? वह रस की निष्पत्ति नहीं है। आवश्यकता की पूर्त्ति है। अपने युग का चित्रण है और एक समाज के युग युग के जीवन का भी व्यवहार रीति-रिवाज का चित्रण है। यह सब आज हमारे लिए इससे अधिक कुछ मूल्य नहीं रखता कि इस सबका एक ऐतिहासिक मूल्य है।

२] किन्तु उस युग परकता में हमें अनेक स्थानों पर युग-युग का संदेश मिलता है। वह हमारे जीवन को उदात्त बनाता है। पाश्चात्य विद्वान तो यह देखता है कि आदिम युगीन इन कवियों ने किस आश्चर्य से समाज और संसार को अपने पुरातन विश्वासों में रहकर देखा। मार्क्सवादी आलोचक केवल वर्ग संघर्ष तक सीमित रह जाता है। वह दर्शन की अनुभूतियों को भी देखता है तो

वर्ग जीवन की ही बात को देखता है। किन्तु आलोचना इतने में ही समाप्त नहीं हो जाती। हमें तो उस समग्र मानव को देखना है जो वेद में मिलता है। वह मानव मूलत: 'सदिच्छा' से प्रेरित है। उसे वर्णदंभ है, जाति गर्व है, परन्तु पीढ़ी पर पीढ़ी मनुष्य आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है। शताब्दियों के इस काव्य संग्रह में हम होम का उठता धुंआँ देखते हैं, हिनहिनाते तुरंगों को चलते देख सकते हैं, उनके पीछे शस्त्रों की झनकार भरते गर्वीले योद्धाओं को पा सकते हैं, हम अग्नि के चारों ओर वलिष्ठ दाढी मूंछों के व्यक्तियों को गम्भीर समवेत स्वर से गाते देख सकते हैं, किन्तु इसी में सबकुछ समाप्त नहीं हो जाता। शताब्दियों के वारि-स्तरों पर उगने वाले कमल भी तो हमें दिखाई देते हैं। जिस समय पुरुरवा करुण स्वर से व्याकुल होकर उर्वशि के लिए पुकारता फिरता है, क्या उसकी सहस्रों वर्षो पुरानी मानवीय वेदना हमारे मानस को नहीं छूती? जब यम और यमी का सम्वाद सामने आता है तब हम मर्यादा और वासना का वही उदात्त स्वरूप देखते हैं जो आज भी दिखाई देता है।

ऋग्वैदिक कवि जब विभोर होकर गाता है तब कहता है—

यस्माहते न सिध्यति यज्ञ विपश्चितश्चन।

सा धीनां योगमिन्वत [१. १. १. ५. १८. ७]

जिनकी प्रसन्नता के बिना ज्ञानवान का यज्ञ सिद्ध नहीं होता, वही अग्नि हमारी मानसिक वृत्तियों को सम्बन्ध युक्त किए हुए हैं।

वैदिक कवि का यज्ञ था—एकत्र होकर अग्नि के चारों ओर अपने दैनिक जीवन का कार्य्य करना। अग्नि वह वस्तु थी जिसे वह देवताओं से प्राप्त मानता था। उसी ज्वाला को वह समस्त में जीवन शक्ति के रूप में व्याप्त समझता था। आज भी यज्ञ वही है, वही भावना है, यद्यपि उसका रूप हमारी संस्कृति में मानसिक रूपमात्र में जीवित है। अग्नि आज भी वही संवेदना है, वही प्रकाश है, जो उस समय था।

सामवेद का कवि कहता है: (अ० ६।२।७. अ० २०।६।७)

नम: सखिभ्य पूर्वसदूभयो नम: सांकनिषेभ्य:।

युञ्चे वाचं शतपदीम्।

पूर्ण हुए समान आत्माओं को मैं नमस्कार करता हूं। साथ ही विद्वान् मित्रों

को भी आदरपूर्वक नमस्कार है। मैं आप लोगों की भाँति ही शतपदी का समाहित चित में विचार करता हूँ। शतपदी अर्थात् अनेक ज्ञान से पूर्ण वाणी।

तब क्या हमें उसमें शाश्वत जिज्ञासा नहीं मिलती ?

हम जानते हैं कि वेद का विराट पुरुष एक भूमिका-मात्र है, जिसका भारतीय चिंतन में निरन्तर विकास हुआ है। श्रीमद्‌भागवत का विराट पुरुष कहीं अधिक व्यापक है। किंतु वह युगों के विकास की भी तो बात है।

यजुर्वेद में कवि कहता है—

स अनं हितासि विश्व रूप्यूर्जामा विश गौपत्येन।

उप त्वाग्ने दिवे दिवे दोषावस्तर्द्धिया वयम्।

नमो भरन्त एमसि। (३. २२.)

अन्न को धारण करते हम लोग बुद्धि से अग्नि द्वारा सब पदार्थों के साथ पराक्रम गुणयुक्त सब पदार्थों में रूप गुणयुक्त पशु पालन करने वाले जीव के साथ हैं, रात्रि को दूर करने वाले अग्नि को दिन-दिन समीप प्राप्त करते जाते हैं।

यहाँ हम निरन्तर यज्ञ भूमि में आलोक की ओर ही बढ़ते जाने की प्रेरणा प्राप्त करते हैं।

ऋ. वे. १०. १९१. में शताब्दियों पूर्व जिन्होंने कहा था—

सं गच्छध्वं सं वदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।

समानो मंत्र : समिति : समानी समानं मन : सह चित्तमेषाम्।

समानं मन्त्रमभि मंत्रये व : समानेन बो हविषा जुहोमि।

समानी व आकूति : समाना हृदयानि व :।

समानमस्तु वो मनो यथा व : सुसहासति।

—साथ चलो, एक लक्ष्य हो, एक मन रखो। समान विचार करो, समान हो, एकत्र हो, एक ही आनन्द के ध्येय हों। एक निश्चय हो, एक ही हृदय हो जाओ। समान मन से ही विकास श्रेष्ठ होता है, तब उन्होंने एक बड़ी उदात्त बात कही थी। उन्हों के वंशजों ने कई सदियों बाद कहा—(अथर्ववेद ३।३०।१)

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि व :।

अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या।

—एक हृदय हो, एक मनस हो, एक दूसरे से सम्बन्ध रखते वक्त घृणा से दूरी रखो। जैसे अपने हाल के पैदा हुए बछड़े को गाय प्यार करती है, वैसे ही हर एक को प्यार करो।

वर्षों पश्चात् गौतम बुद्ध ने जो गुरुजनों का सम्मान करने का उपदेश दिया था वह अथर्ववेद के कवि ने दिया था—

ज्यायस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयन्त : सधुराश्चरन्त : ।
अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदन्त : एत सध्रीचीनान्व :
संमनसस्कृणोमि ।
समानी प्रपा सह वोऽन्नभाग : समाने योक्त्रे
सह वो युनज्मि ।
सम्यञ्चोऽग्निं सपर्यतारा नाभिमिवाभित : ।

तुम जो अपने गुरुजनों का सम्मान करते हो, उदात्त चित्त वाले हो और धन सम्पादन के कार्य्य में मैत्रीपूर्ण व्यवहार रखते हो, और एक ही जूए के नीचे समान मार्ग पर चलते हो, कभी एक दूसरे से अलग न होना। आओ ! मैं तुम्हें एक ध्येय एक-मनस बनाता हूँ। एक दूसरे से मीठे बचन बोलो। एक जगह पियो और साथ-साथ खाओ, जैसे तुम ही जूए के नीचे हो। ऐसे मिले रहे जैसे सारे अरे पहिये की धुरी में मिले रहते हैं।

और यही भावना हमें उपनिषदों में भी मिलती चली जाती है।

संसार का कोई ऐसा देश नहीं है जहाँ ऐसा आश्चर्य्य भी दिखाई देता हो कि आज से ३००० वर्ष पूर्व के लगभग जो ऋचाएं जिस स्वर से बोली जाती थीं, वे आज भी उसी स्वर से बोली जाती हों। निस्संदेह ब्राह्मणों का वेदों पर सर्वाधिकार था और उनकी वह संकीर्ण वृत्ति कि वेद कोई और न सीखे, इसके लिए जिम्मेदार है; किन्तु इतिहास को तो इस बुराई से ही लाभ हो गया। जैसे मेवाड़ के भग्नावशेष मर्यादा का गौरव बताते हैं, किन्तु इतिहास नहीं, किन्तु जयपुर के युद्ध विमुख राजाओं की सिर झुकाने की नीति के कारण हम आज भी आमेर में तत्कालीन इमारतों को ज्यों का त्यों पाते हैं, उसी प्रकार वेद भी बचा रह गया है। इतने विशाल साहित्य-संकलन पर इतने संक्षेप में हम सब कुछ कह चुके हों यह सोचना ही व्यर्थ है। किन्तु इतना हम निस्संदेह कह सकते हैं कि

वेद की कविता और संसार के अन्य धर्म ग्रन्थों की कविता में काफी भेद है। अन्य रचनाओं में हमें एक ही संप्रदाय के चिन्तन का साक्षात्कार मिलता है। वेद में बहुत्व है। बहुदेववाद से जो चिंतन एकदेववाद की ओर विकास करके वेदों में विकसित हुआ है, वही वेद की पूर्णता नहीं है। वेद में जहां हमें प्राचीन काल के बहुत से अन्ध-विश्वास प्राप्त होते हैं, वहीं हमें बहुत ही सार्वजनीन सत्य भी प्रतिपादित मिलते हैं।

प्रत्येक युग के काव्य की एक मर्यादा होती है और वेद में भी अपने युग की मर्यादा है। इत्यलं की वैदिक काव्य में एक बहुत्व है जो विचार के क्षेत्र मे तो है ही, सामाजिक बिम्बवाद में भी वह बहुत्व का वैसा ही रूप धारण करता है। वेद के ही चारों ओर समस्त दास प्रथा के युग की कृति एकत्र की गई थी। तभी हमें वेद के ही अङ्गोपांगों के रूप में धनुर्वेद, गांधर्ववेद, आयुर्वेद इत्यादि मिलते हैं। वेद के पूरक साहित्य तो प्रसिद्ध हैं ही, जिनका हमने उल्लेख किया है, इसके अतिरिक्त वेदाङ्ग के रूप में ही शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त का उल्लेख हुआ है। बल्कि अठारह पुराणों को भी वेद का ही उपाङ्ग कहा गया है।

उन्नीसवीं शती में जब यूरोप निवासियों ने पहले पहल वेद पर छाये ब्राह्मणों के सर्वाधिकार को तोड़ दिया, तब ही भारतीयों ने वेद की वास्तविक महानता को समझना प्रारम्भ किया। उससे पहले केवल एक परम्परा थी कि वेद महान है, उसे बस स्वीकार कर लो। वेद को ही जो पहले स्वीकार नहीं करते थे, वे ही नास्तिक कहलाते थे—जैसे लोकायत, जैन और बौद्ध। षडदर्शनों में सांख्य आदि जो ईश्वर को नहीं मानते, वेद को मानने के कारण ही वे आस्तिक कहलाये हैं। और आज ही हम वेद की सार्वजनीन उक्तियों के अध्ययन करने पर ही समझ सकते हैं कि मूलत: विभिन्न सम्प्रदाय रूप में दिखने वाली भारत की विभिन्न धाराएं अपने अन्तस्स्रोत में एक ही मार्ग पकड़ने की ओर अग्रसर हुई हैं। आनन्दवाद का अन्त यद्यपि दु:खवाद मे परिणत हुआ, किन्तु 'तप' के माध्यम से दुख की सत्ता के अन्त को सदैव भारतीय चितन के आनन्द की सत्ता में ही तिरोहित माना है।

— ४ —

वेद और भारतीय काव्य-परम्परा—भारतीय काव्य-शास्त्र की परम्प भरत मुनि के नाट्य शास्त्र से प्रारम्भ होती है। भारतीय परम्परा आदि कवि रूप में बाल्मीकि का ही स्मरण करती है। इसके दो कारण प्रमुख हैं। वाल्मीनि रामायण और वेदव्यास कृत महाभारत का प्रणयन प्राय: एक ही युग में प्रारम् हुआ था, और ये दोनों ही रचनाएं वैदिक संस्कृति के बाद की रचनाएं हैं, ज कि लौकिक संस्कृत में लिखी गई हैं। हो सकता है कि यह चारण काव्य प्रारम में अपने छोटे रूपों में परवर्त्ती वैदिक संस्कृत में रहे हों जो बदलती भाषाओं युग में गाए जाते रहने के कारण लौकिक संस्कृत का रूप धारण कर गए कालांतर में दोनों काव्यों में बहुत कुछ और जुड़ गया और उनका कलेव विशाल हो गया। यद्यपि महाभारतकार वेद व्यास को भी कवि कहा गया है किन्तु महाभारत को इतिहास माना गया है। शुद्ध काव्य तो रामायण को ह माना गया है। इसका प्रथम कारण तो यही है कि काव्य से किसी विशेष रचन को ही माना गया। महाभारत में भी अ-रस स्थल होने के कारण उसे इतिहार माना गया। काव्य के मानदण्ड का बदल जाना ही इसका सबसे बड़ा कारा है। वैदिक काव्य नर-काव्य नही था अत: उसे परवर्त्ती काल में काव्य नहीं मान गया। दूसरा कारण यह भी है कि वेद को अपौरुषेय माना गया और क्योंवि उसे ईश्वर कृत माना गया उसे काव्य के अन्तर्गत न लेकर दिव्यवाणी के अंतर्गत लिया गया।

काव्य का रूप—वास्तव में वैदिक युग का अन्त संस्कृति के एक विशाल युग का अन्त था। हम देख चुके हैं कि आदिम सामाजिक व्यवस्था से विकार करते हुए मनुष्य उस सामाजिक व्यवस्था तक आ पहुँचा जहाँ दास प्रथा ह्रास क ओर उन्मुख हो गई। दास प्रथा का नाश मानव समाज में नयी चेतना का प्रादु र्भाव करने वाला हुआ। मानवीय भावनाओं का विकास हुआ। नयी मर्यादाए स्थापित हुईं। इस नयी मर्यादा ने—

१—पाणिनि के रूप में जनभाषा संस्कृति (लौकिक) को व्यापक भारतीय संस्कृति के आदान-प्रदान करने का माध्यम बनाया। उसका व्याकरण रच

गया। पहले जो वैदिक काव्य का पदपाठ और व्याकरण ही प्रमुख था, उसके स्थान पर अब लौकिक भाषा को भी मान्यता प्राप्त हुई।

२—महाभारत काव्य के रूप में काव्य का रूप भी बदला। काव्य अब अधिक सरस हो गया। मनुष्य की समस्याएं भी अधिक सशक्त रूप में समाज के सामने रखी जाने लगीं। पहले वैदिक काव्य में देवताओं की स्तुति थी, कर्मकाण्ड प्रधान था। अब मनुष्य की भावनाओं का चित्रण अधिक होंने लगा।

३—देवताओं का स्थान गौण हो गया। समाज में विष्णु, शिव और ब्रह्मा के नये मानवीय स्वरूपों का प्राधान्य उपस्थित हुआ। सब जातियों को साहित्य के सुनने का अधिकार प्राप्त हुआ।

४—काव्य को छन्द विविधता और कठिनाई से याद रखे जाने वाले गद्य की जगह पर सहज अनुष्टुप छन्द का आधार मिला। पहले काव्य यज्ञों में गाया जाता था, अब वह सभाओं और चौराहों पर गाया जाने लगा।

५—इस प्रकार काव्य का रूप अधिक व्यापक होने लगा। पहले काव्य के वर्ण्य विषय की विविधता अन्ततोगत्वा कर्मकाण्ड से सम्बन्धित होती थी, परन्तु अब नर-नारी के कलापों का चित्रण अधिक हुआ और समाज से बहुत अंश में व्यक्ति को सापेक्ष रखा गया।

६—नये युग में भरतमुनि के रूप में साहित्य में साधारणीकरण और रस के सिद्धान्त के प्रतिपादन ने उच्च वर्णों का सर्वाधिकार हटा दिया और नयी चेतना का विकास हुआ।

७—मनुष्य के विकास ने देवताओं का स्वरूप भी बदल दिया। पुराने देवता बलि लेते थे, परन्तु नये देवता अपने मानवीय स्वरूपों में रखे गए।

किन्तु इस स्थान पर हमें यह याद रखना चाहिए कि वस्तुतः यह विकास वैदिक काव्य में ही प्राप्त होता है और यह नयी परम्परा उसी की विरासत थी। क्योंकि वेद का सम्पादन परवर्त्ती काल में कालक्रमानुसार नहीं हुआ है, हम निश्चय से विकास की रेखाएं नहीं बाँट सकते, परन्तु यदि आमतौर पर देखा जाये तो हम स्पष्ट देखते हैं कि—

१—अपने मूल रूप में वैदिक काव्य घुमन्तू कबीलों की देवों की स्तुति मात्र था।

२—धीरे-धीरे उसमें सामाजिक कार्यकलाप अधिक प्रतिबिम्बत होने लगे समाज का रूप घुमन्तू से स्थिरता की ओर आने लगा। अनेक जातियों के सम्बन्ध से नयी-नयी विचारणाएं दिखाई देने लगीं।

३—यज्ञ का विकास हुआ। यज्ञ आर्यों की विजय और प्रसार का साधन बना। उसके लिये अश्वमेध, राजसूय आदि का प्रारम्भ हुआ।

४—उसके बाद के युग में हमें व्यक्तिपक्ष की साधना के भी दर्शन होने लगते हैं। यद्यपि अथर्ववेद की रचना में कुछ मन्त्र बहुत प्राचीन हैं, फिर भी उसका अधिकांश परवर्त्ती ही है।

यहाँ तक का साहित्य चारों वेदों में समाप्त हो जाता है। किन्तु क्योंकि वेद के रचयिता ऋषि भी समाज की उथल-पुथल में ही रहते थे और उन पर विभिन्न विचारों का प्रभाव भी पड़ता था, उनकी मूल प्रेरणा मनुष्य के सुख की भावना से प्रेरित थी। वैदिक युग में वर्ण धर्म प्रचलित था। दास प्रथा थी। किन्तु दार्शनिक और कवि मनुष्य के कल्याण की कामना करते थे। यह तो अपनी युग सीमा की बात थी। जिस वेद में उस ऋषि का काव्य है जिसमें शत्रु दल का सर्वनाश करने की प्रार्थना है, उसी में इस मधुमती पृथ्वी को धनधान्य से परिपूर रखने की भी प्रार्थना है। अनेक समाज-व्यवस्थाओं के चित्रण तो मिलते हैं किन्तु निरन्तर मानवीय भावना विकास करती गई है। अथर्ववेद (१२.१) में कहा है—

सत्यं बृहहतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म
यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सानो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरूं लोकं
पृथिवी नः कृणोतु॥
असंबाधं बध्यतो मानवानां यस्या उद्वतः
प्रवतः समं बहु।
नानावीर्य्या ओपधीर्या विभर्तिपृथिवी
नः प्रथतांराध्यतां नः॥

यस्यां समुद्र उत सिंधुरापो यस्यामन्नं
कृष्टयः संबभूबुः ।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो
भूमिः पूर्वपेये दधातु ॥

बृहत् ऋत अर्थात् सत्य में फैलते हुए जन दीक्षा, तप और ब्रह्म और यज्ञ से ही पृथिवी को धारण करते हैं। जिस पृथ्वी ने हमें जगह दी थी, और दे रही है, वही हमारी भविष्य में भी रक्षा करे। यह ऊंची-नीची होने पर पृथ्वी ही धीमानों के विकास का पथ खोलती है। उसमें अनेक औषधियाँ हैं। वह हमारे सुख का कारण बनें। जिसमें समुद्र, नदियाँ और अन्य जल-धाराएं, अन्न, कृषि अवस्थित हैं, जिसमें प्राण जीवित हैं, वही हमें महानता की ओर ले जाये, हमारी रक्षा करे।

पुरुषसूक्त से यहाँ तक निरन्तर विकास ही मिलता है।

परवर्त्ती वैदिक साहित्य में जो ब्राह्मण-ग्रन्थ और आरण्यक ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें हमें इसी मानवीय विचारधारा का विकास प्राप्त होता है। ब्राह्मणग्रन्थों में, यह नहीं समझना चाहिये कि केवल कर्मकाण्ड को प्रतिष्ठापित करने के लिये ही सारी व्याख्या की गई थी। बल्कि हमें यह समझना चाहिये कि तत्कालीन विचारकों ने समाज की बदलती परिस्थिति में नये समाज के अनुकूल प्राचीन को समझने की चेष्टा की थी। तभी हमें ब्राह्मणों और क्षत्रियों के संघर्ष की भी कथा प्राप्त होती है। यद्यपि वे लोग कर्मकाण्ड में ही अपने सत्य को व्यवहार का रूप देते थे, परन्तु अगली मंजिल में आरण्यकों में हम बड़े ही मेधावी पुरुषों को सत्य के बड़े ही ऊंचे-ऊंचे स्तर दिखाते हुए देखते हैं। इसीलिये हमें यही कहना उचित होगा कि—

१—वैदिक साहित्य प्रारम्भ में एक छोटे समाज में रहने वाले व्यक्तियों का साहित्य है।

२—किन्तु वह निरन्तर एक बड़े होते हुए समाज का चित्रण करता जाता है।

३—हम निस्सन्देह कह सकते हैं कि हम प्रायः ही विकास क्रम में मानवीय भावनाओं का निखार पाते चलते हैं। हम देखते हैं कि गर्भ के बालक काटने वाला देवता (इन्द्र) आगे चलकर आकाश और सिन्धु में व्याप्त हो जाता

है और आगे चलकर उपनिषदों में हम उसे एक व्यापक ब्रह्म के साम
पराजित होते हुए देखते हैं ।

४—वैदिक साहित्य में वर्ग संघर्ष है, परन्तु वहाँ मानव का सत्य प्रतिपादि
किया गया है और मानव का बहुत सा सत्य युगपरक है, अपने आयामों
सापेक्ष है, वह बदलता रहता है और बदलता रहेगा । स्वयं हम जिन मान
दण्डों का प्रयोग कर रहे हैं, वे हमारी युग-सीमाएं हैं और पूर्ण सत्य क
उद्‌भास उनसे भी नहीं हो सकता ।

५—दासप्रथा को एक स्थान पर न्याय्य बनाने वाला वैदिक साहित्य आ
चलकर स्वयं ही आत्मा की समानता का प्रतिपादन करता है । उपनिषद
में जो ब्रह्म और क्षत्र को काल का ओदन कहा गया है, उसका मूल ह
वेद में ही प्राप्त होता है ।

६—हम कह सकते हैं कि वैदिक काव्य हमारी भारतीय संस्कृति के आरम्भ
लेकर एक बड़े सामाजिक विकास की सीमा तक का वर्णन है, जिसमें अंति
सीमा पर हम उस समाज की नींव धरी हुई पाते हैं, जिसकी इमारत मह
भारत की मानववादी परम्परा के रूप में उठ खड़ी हुई है ।

७—यह सत्य है कि महाभारत युद्ध के बाद ऋषभदेव की जैन चिंतन क
परम्परा, श्वेतद्वीपी ब्राह्मणों के वैष्णवचिंतन की पांचरात्र परम्परा और शै
सम्प्रदायों की सहिष्णुता की परम्परा ने वैदिक वर्णधर्म का अपने समय
घोर विरोध किया था, और महाभारत में प्रायः ही वैदिक देवता औ
वैदिक कर्मकाण्ड का महत्त्व नीचे गिरा दिया गया है, बल्कि वैष्णवों
वैदिक पात्रों को भी अपने गढ़न्त रूप में प्रस्तुत कर दिया है, फिर भी य
अवश्य समझ लेना चाहिये कि इस विदोह का आधार हमें आरण्यकों क
दार्शनिक भूमि में ही प्राप्त होता है ।

८—इसका कारण यही है कि वैदिक काव्य के प्रणेता समाज की बदलत
अवस्थाओं से प्रभावित होते थे और उनपर अनेक प्रकार की विचारधारा
का प्रभाव पड़ता था । वे मानव-ज्ञात-सत्य के विभिन्न रूपों को आत्मसा
करने की चेष्टा में ही रहते थे । यही कारण है कि बहुत परवर्त्ती काल त
भारतीय चिंतन ने वेदों से प्रेरणा ली है और वेदों को पूज्य कहा है । वैदि

संस्कृति का स्थान पौराणिक संस्कृति ने ले लिया, किन्तु वैदिक काव्य का मानववादी स्तर निरन्तर संस्कृति को पथ दिखलाता रहा। गत युगों का जो भी अनगढ़ रूप हमें वेद में मिलता है, उसको परवर्त्ती युगों में भारत ने ज्यों का त्यों नहीं अपनाया।

९—सारांश में हम कह सकते हैं कि समाज बनने के समय की व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के समाज में लुप्त होने के समय के साहित्य से हमें दासप्रथा के टूटने के उस समाज तक के चिंतन का यहाँ साक्षात्कार होता है जिसमें मानव की आत्मा को व्यापकता मिलती है। परवर्त्ती वैदिक काव्य यह कहता है कि ब्रह्म तो सबसे परे है, इसलिये परमात्मा को किसी भी स्वरूप में मान लो। वैदिक काव्य के ब्रह्म की इस विवेचना ने ही परवर्त्ती काल में जब मनुष्य ने स्थिर रूढ़ियों के विरुद्ध विद्रोह करके स्वतन्त्र चिंतन किया तब सांख्य को यह चेतन-आधार दिया था कि वह ब्रह्म को ही अस्वीकार करदे। इतनी व्यापकता और विशालता वैदिक काव्य की ही विरासत है। यदि पूर्वाग्रह छोड़कर देखा जाये तो हमें वैदिक काव्य में ही अहिंसा, जीवदया, भूतरक्षा, शान्ति, भ्रातृत्व, संघजीवन की कमनीयता आदि जितने भी मानवीय गुण हैं, वे गुण जो अपने विशेष बलों (stresses) में बौद्ध, जैन तथा अन्य चिंतनों में दिखाई देते हैं, प्राप्त हो जाते हैं। ऐसा लगता है कि वैदिक काव्य ने दासप्रथा के अन्त में उठते सामन्तीय समाज की नयी मानवीयता को ही मंगल-भूमि प्रदान नहीं की, वरन् उसने मनुष्य के लिये सार-भौम, सार्वजनिक, सार्वजनीन और सर्वकालीन संदेश भी दिया, जिसमें उसने मूल रूप में उस मानवीय सत्य के व्यापक रूप की प्रतिष्ठा की, जिसके द्वारा भारतीय संस्कृति इतने उत्थान और पतनों को निरन्तर बदलती रहकर, झेलकर भी, मर नहीं सकी। उसने अपनी आत्मा में 'तप' की उस चरम मर्यादा में ऐसा समा लिया कि वह आज भी उसी व्यापकता से जीवित है, जिस व्यापकता से उपनिषद्कार जीवित थे।

किन्तु वैदिक काव्य में देवता दिखते हैं, चिन्तन मिलता है, हमें मनुष्य के हृदय की रागात्मक अवस्था बहुत ही कम दिखती है और मनुष्य के विकास ने काव्य की परिभाषा के अन्तर्गत उसी स्थान को स्वीकार किया जिसमें मनुष्य के

हृदयपक्ष का अधिकाधिक वर्णन हो। यही कारण है कि इतनी प्रेरणा प्राप्त करके भी, धर्म और ज्ञान का स्रोत मानकर भी, ईश्वरीय और परम पुनीत मान कर भी वेद को काव्य के अन्तर्गत नहीं माना गया। यह सेहरा तो वाल्मीकि के सिर ही बाँधा गया, जिन्होंने सर्व-प्रथम नर काव्य लिखा।

वेद में कर्त्तव्यों का वर्णन था, किन्तु उसमें रुलाने और हँसाने वाली शक्ति नहीं थी। वेद पुरोहितवर्ग का साहित्य था, यद्यपि अपने प्रारम्भिक रूप में वह केवल कवियों की कविताओं का संग्रह-मात्र था। किसी समय ब्राह्मण कुलों के अपने-अपने यज्ञगीत और स्तुतियाँ थीं। उस समय वे गीत अलग-अलग स्थान पर थे। किन्तु जैसे-जैसे कुल मिलते गये, गीत समूह बढ़ता गया और अन्त में जब दास प्रथा से ह्रासकाल में सारी संस्कृति में ही उथल-पुथल मच उठी, वे गीत एकत्र कर लिये गये। फिर उनकी रक्षा की गई। उस प्राचीन परम्परा की रक्षा के अनेक प्रयत्न किये गये। पहले यज्ञ कराना ब्राह्मण का धर्म था, अतः अन्य वर्णों को वेद नहीं पढ़ाया जाता था। अपनी व्यापक अनुभूति के बावजूद ब्राह्मण इस बन्धन को नहीं छोड़ सके और वेद इसीलिये कभी भी निम्न समाज का ग्रन्थ नही बन सका। उसको शूद्रों से निरन्तर बचाया गया। किन्तु इसका परिणाम यही हुआ कि जो बातें नये युग के लिये आवश्यक नहीं थीं, उन्हें विकासशील संस्कृति ने छोड़ किया, किन्तु मानववादी स्वरों को वेदों से पूरी तरह से अपने भीतर आत्मसात कर लिया गया।

बहुधा विद्वान् जब द्वापरकालीन शांतनु तथा त्रेता युगीन राम का नाम ऋग्वेद में देखते हैं तब वे भ्रम में पड़कर मानते हैं कि ऋगवेदकाल में ही वे हुए थे। परन्तु न तो ऋग्वेद का कोई विशेष काल ही है, न ऋग्वेद की रचनाएं ही कालक्रमानुसार एकत्र की गई हैं। वेद में भी 'पुराणों' का नाम आया है, इति-हास' का नाम आया है। आरण्यकों में तो आया ही है। इसका अर्थ है कि उस समय भी इन धार्मिक स्तुतियों अर्थात् वेद के अतिरिक्त कुछ अन्य रचनाएं थीं। सम्भवतः वे अपने युग की प्राचीन भाषा में ही थीं, किन्तु जिस प्रकार वेद के एक-एक स्वर और पाठ को पवित्र मानकर उसकी रक्षा की गई, वैसी उन पुराणों की नहीं हो सकी और वे पुराण बदलती हुई भाषा के युग में अपना रूप बदलते गये। वायु पुराण जैसे प्राचीन पुराण सम्भवतः उसी प्राचीन परम्परा

की रचनाएँ हैं, जिनमें समय ने बहुत कुछ जोड़ दिया है। वेद में जो रिकार्ड नहीं थे, उन्हें पुराणों ने एकत्र किया था। चारण स्तुतियों, बन्दीजन के गीतों का उल्लेख महाभारत में हुआ है, जो प्रगट करता है कि यह परम्परा भी बहुत प्राचीन ही रही है। इसीलिए हमें भारतीय संस्कृति को समझने के लिये पुराणों की परम्परा को भी कुछ सीमा तक स्वीकार करना ही होगा। इसे देखने पर वेद मन्त्रों में क्रम खोजने के हठ से हम मुक्त हो सकते हैं। 'वेद' में सब कुछ है, यह सिद्धान्त बास्तव में ठीक नहीं है। आधुनिक विद्वानों में यह भ्रम है कि वेद में अपने युग की हर एक वात मिलनी ही चाहिये। वेदव्यास ने जब वेद का संपादन किया होगा तब अपने युग में प्रचलित परम्परा के अनुसार उन्होंने पुरानी ऋचाओं को पहले और बाद की रचनाओं को बाद में, या ब्राह्मणकुलों की देन के रूप में उनके मानानुकूल रखा होगा। परन्तु उसमें उनका दृष्टिकोण आज की भाँति तो निश्चय ही नहीं रहा होगा।

अब समय आ गया है कि वेदों का निष्पक्ष दृष्टि से अध्ययन हो। हिन्दी में अभी तक वेदों का कोई अच्छा अनुवाद नहीं है। हमारे कुल विद्वान सायण और प्राचीन टीकाकारों को महत्त्व नहीं देते, वे अपने ही अर्थ निकाल लेते हैं, यहाँ तक कि एक सज्जन तो इधर कोई वैज्ञानिक अन्वेषण हुआ नहीं कि उसे तुरन्त वेद में ढूंढ़ निकालते हैं। आज आवश्यकता इस बात की है कि काशी नागरी प्रचारिणी सभा या हिन्दी साहित्य सम्मेलन वेदों का प्रामाणिक सम्पादन कराके एक अच्छा अनुवाद हिन्दी में प्रस्तुत करें, क्योंकि अभी तो भारतीय संस्कृति की जाने कितनी उलझी हुई गुत्थियाँ हैं जो इनके अत्यन्त गम्भीर और देर तक होने वाले अध्ययन से ही प्रगट होंगी।

अन्त में हम यही कहेंगे कि वैदिक काव्य जहाँ एक ओर पाश्चात्य विद्वानों को एक पिछड़ी हुई अवस्था के मानवों का आदिम काव्य दिखाई दिया है, वहाँ दूसरी ओर वह भरत की सहिष्णु चेतना का मूलाधार ही बन कर रहा है।

काव्य की दृष्टि से वह बहुत ही गम्भीर है, किन्तु उस युग का काव्य हृदय पक्ष पर निर्भर नहीं था। उस काव्य में समाज पक्ष की आवश्यकता की प्रमुखता थी, न कि व्यक्तिगत भावना की आवेदनात्मक संवेदना की। वैदिक काव्य सामूहिक प्रगीति का काव्य है जिसमें व्यक्ति की सामूहिकता का आभास प्राप्त होता

है, भले ही वह समूह अपने युग में एक छोटा ही समूह क्यों नहीं था। परवर्त्ती काव्य-युग में महाकाव्यों ने जन्म लिया। हम निश्चय से कह सकते हैं कि हमारे महाकाव्यों के युग ने समाज को बर्बर दास प्रथा के बाद सामंतीय जीवन की मुक्ति का प्रदान किया जब कि यूनान के महाकाव्य-युग ने दास प्रथा का विकास किया। होमर की रचना ने अतीत का गौरव गाया, जब कि हमारे महाभारत ग्रन्थ ने अतीत के गौरव को अपना अन्त नहीं माना, मानव की सत्य विजय को ही सर्वश्रेष्ठ मानकर मानव के लिए नया रास्ता खोल दिया। यह तो निस्संदेह कहा जा सकता है कि वेद के युग की कोई रचना प्राचीन यूनान नहीं दे सका, न अन्य देशों में ही इतनी प्राचीन रचना प्राप्त हुई है।

वैदिक काव्य अपने मूल रूप में धर्म को ही अपना सका था, तभी नाट्यवेद को अलग माना जाता था। नाट्यवेद में ही मनोरंजनात्मक रचनाओं का स्थान माना गया था, जिसमें नृत्त, नृत्य, गीत आदि का समन्वय था। कुछ विद्वान वेद में नाट्य का समावेश खोजते हैं। किन्तु वह झलक-मात्र है। परवर्त्ती वैदिक साहित्य में नाट्य वेद को स्वतंत्र ही बताया गया है। अत: हमें इसका ध्यान रखना चाहिये कि वैदिक काव्य की मर्यादा को समझा जाये। एक विशेष काव्य को ही प्राचीन ऋषियों ने वेद के अन्तर्गत स्वीकार किया था। व्यक्तिपरक संवेदना को प्रगट करने वाली रचनाएं वेद में बहुत ही कम मिलती हैं। धर्म, दर्शन और सामाजिक जीवन की चिंतन-प्रधान रचनाएं ही प्राय: वैदिक काव्य में समन्वित हैं। मानव जाति के आदिकाल में नये मानव की दृष्टि में एक तरुणाई थी, और वह हमें मिलती है। किन्तु आश्चर्य यह देखकर होता है कि अपनी युग सीमा के बावजूद वेद का कवि सृष्टि के रहस्यों के प्रति बड़ा ही जागरूक था और उसके स्वर में जीवन का बड़ा व्यापक और सशक्त ओज था।

धर्म की मानववादी परम्परा और विकास

— १ —

दुनिया में जो चीज पैदा होती है, वह एक दिन मरती भी है, इसे कौन नहीं जानता। आज तक बड़े-बड़े विचारकों ने इस पर बहुत ध्यास से सोचा है और भारत ही में नहीं, भारत के बाहर भी, अगर मनुष्य को किसी चीज ने डराया है तो वह मौत ही है। लेकिन हमेशा से मौत से डरकर भी देखा जाये तो आदमी कभी डरा नहीं है। इसकी एक-दो बहुत ही अच्छी कहानियाँ महाभारत में आई हैं। एक कहानी है कि एक बार पाँचों पाण्डवों को प्यास लगी और आखिर एक भाई को पानी की तलाश में भेजा गया। वह भाई जंगल में आगे बढ़ा तो उसे एक तालाब सा दिखाई दिया। ज्यों ही वह पानी पीने को हुआ कि आवाज आई, मेरे सवालों का जबाव दे, वर्ना पानी न पी। पर प्यास के मारे उसने ध्यान न दिया और पानी पी गया। पानी पीते ही वह मर गया। उसको देर करते देख एक और भाई निकला। उसे भी तालाब दिखा। भाई की लाश भी दिखाई दी, मगर अपनी प्यास के बावले उसने न आवाज पर ध्यान दिया, न लाश पर, पानी पिया और आप भी मर कर गिर गया। यों ही बाकी दो भी आये, आवाज पर ध्यान न दे, भाइयों की लाश देखकर भी न समझे, अपनी प्यास बुझाने को चंचल हुए, वे भी मर कर गिर पड़े। अन्त में सबसे बड़े भाई धर्मराज युधिष्ठिर आये और चारों भाइयों को मुर्दा देखकर रुक गये। उन्होंने देखा, सामने एक यक्ष खड़ा कह रहा था : 'मेरे सवालों का जवाब दे, वर्ना तू भी अपनी प्यास का अन्धा यह पानी पीते ही मर जायेगा।'

अब सवाल-जवाब होने लगे। आखिर युधिष्ठिर ने उसके सब सवालों का जवाब दे दिया। अन्त में यक्ष ने अपना असली रूप धारण किया। तब पता चला कि वह तो स्वयं धर्म था जो युधिष्ठिर की परीक्षा लेने यक्ष बनकर आया था। उन सवाल जवाबों में कुछ बातें ऐसे मार्के की हुईं कि उनको पढ़कर मुँह से वाह-वाह निकल जाती है।

यक्ष ने पूछा : 'बताओ संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य क्या है ?'

यों तो दुनिया में ताज्जुब करने लायक बहुत कुछ है, मगर युधिष्ठिर ने
मिसाल जवाब दिया। उन्होंने कहा : 'आदमी आदमी को मरते देखता है। व
जानता है कि उसे आप भी मरना है, लेकिन वह कभी यह नहीं सोचता। इ
बढ़कर ताज्जुब की बात और कोई नहीं है।'

यक्ष ने पूछा : 'आदमी का धर्म क्या है ? उसे किस रास्ते पर चल
चाहिये ?'

युधिष्ठिर ने कहा : 'आदमी का कोई एक धर्म नहीं है, धर्म बदलता रह
है। उसे तो महापुरुषों के रास्तों को देखकर अपना रास्ता बनाना चाहिये, क
कि जो आदमी किताब के लिखे को आँख मूदकर मानकर चलता है, वह स
की गति को नहीं समझता। हम न इस संसार का आदि जानते हैं, न अ
जानते हैं। हम तो बीच रास्ते पर हैं। यहाँ सिवाय इसके कि पीछे मुड़
देखने पर हमें पहले चले हुओं के पांवों के निशान दिखाई देते हैं, हमें और म
ही क्या है ?'

धर्म और युधिष्ठिर की यह बातचीत संसार के साहित्य में बेजोड़ है। कित
बड़ी-बड़ी बातें कितनी आसानी से समझा दी गई हैं। इसको पढ़कर हमें जीव
मृत्यु, धर्म और समाज के बारे में नयी शिक्षा मिलती है। हजारों साल पुरा
किताब महाभारत में ऐसी ही दूसरी कहानी है जो हमारे विषय को स्पष्ट कर
है कि द्वैपायन व्यास बहुत बड़े कवि और महर्षि थे। उन्होंने एक बार एक रा
का रथ आता हुआ देखा। रास्ते पर एक कीड़ा जा रहा था। उसने जो
आता देखा तो उसे अपनी जान बचाने की चिन्ता हो गई। वह बचने के लि
इधर-उधर भागने लगा।

महर्षि व्यास को यह देखकर बड़ा ताज्जुब हुआ। उन्होंने कहा : 'ओ कीड़े
सब लोग कहते हैं कि पाप और पुण्य के फल से प्राणी को तरह-तरह के ज
मिलते हैं। बहुत पुण्य करने से मनुष्य का जन्म मिलता है, उससे कम पुण्य
फलस्वरूप पशु-जन्म मिलता है। जो बहुत ही पाप करते हैं, वे ही अगले ज
में कीड़े बनते हैं जो तिर्य्यक् योनि कहलाती है। फिर इस बात को जानते
भी तू अपने को क्यों बचाना चाहता है ? मर जायेगा तो तेरी आत्मा इस ग

योनि से तो छुट ही जायेगी।'

यह सुनकर कीड़े ने हंसकर कहा : 'हे महर्षि ! तुम्हारा पढ़ना-लिखना करीब करीब बेकार ही गया। क्या तुम नहीं जानते कि जो आत्मा मुझमें है, वही तुममें भी है। फिर वह किसी भी योनि में क्यों न हो, जान-बूझकर उसकी हत्या करना क्या आत्महत्या का पाप नहीं है ?'

महर्षि व्यास इस बात का उत्तर नहीं दे सके।

हमारी भारतीय संस्कृति ने तीन बातें अपने में रमा ली हैं। एक यह कि मौत से डरना फ़िजूल है। हर चीज़ को मरना है। लेकिन मौत का कभी अन्त नहीं है। एक आदमी मरता है, पर अपना बेटा संसार में छोड़ जाता है और क्योंकि कड़ी टूटती नहीं, इसलिये मौत केवल रूप का बदल जाना है।

दूसरी बात यह है कि संसार में समय के साथ मनुष्य का धर्म भी बदलता है, इसलिये पुराने लोगों ने अपने धर्म को 'सनातन' यानी हमेशा ही बना रहने वाला कहा है। समय बदलता रहा है, धर्म भी बदलता रहा है।

तीसरी चीज़ यह मानी गई है कि इस दुनिया में अनेक तरह से प्राणी रहता है, इसलिये सबके प्रति समान भाव रखना चाहिये, सबको ही यहां जीने का अधिकार है, और कोई भी सिद्धान्त या सचाई ऐसी नहीं हैं, जो कि एक आदमी या दल को, दूसरे आदमी या दल के विश्वास का नाश कर देने की बात का अधिकार दे सके।

यही कारण है कि हमारे भारतीय समाज ने बड़े-बड़े उत्थान और पतन देखे हैं। बड़े-बड़े तूफानों का मुकाबिला किया है। सारे के सारे समाज को बार-बार विदेशी विजेताओं ने रूंद-रूंद दिया है, मगर हम कभी मरे नहीं हैं।

यही कारण है कि नयी-नयी चीज़ों ने आकर हम पर असर डाला है और हम धीरे-धीरे बदलते भी रहे हैं, लेकिन हमने कभी अपनापन नहीं खोया, हम कभी किसी के भी नकलची नहीं बने और हमने अपनी बुनियादी अच्छाई को नहीं छोड़ा। हमने 'धर्म' सदैव माना है, लेकिन हमारा धर्म बराबर बदलता रहा है और धर्म की बाहरी बातों में फ़र्क आ जाने पर भी उसकी भीतरी अच्छाई को हम बराबर पकड़े रहे हैं। उसको हमने कभी नहीं छोड़ा। यही बात हमारी

जीन की असली बुनियाद भी रही है।

और यही कारण है कि हमने सबसे बड़ा सबक इस दुनिया में यही पाया है कि जिस तरह हम अपने को ठीक मानते हैं, उसी तरह दूसरों को भी अपने को ठीक मानने का पूरा अधिकार है। हतारी भारतीय संस्कृति ने इस बात को सिर्फ़ किताबों में ही नहीं रखा, वरन् अपने नित्य के जीवन में इसको अमल में लाकर दिखाया।

आज जो हमारी संस्कृति में इतना विस्तार है, इतना बड़प्पन है, उसकी जड़ में यही बात है। लोग अक्सर कहा करते हैं कि भारत में बहुत भेद है, यहाँ तरह-तरह के विश्वास हैं, अनेक धर्म हैं, अनेक दर्शन हैं, यह सब देख कर कुछ समझ में नहीं आता, तो हमें इस पर ही सबसे बड़ा गौरव अनुभव करना चाहिये, क्योंकि भारत ने ही असली तौर पर आदमी को सोचने की आज़ादी दी है।

हमारे देवता इसका सबसे बड़ा सबूत हैं।

— २ —

दुनिया के हर एक देश का इतिहास यह बताता है कि वहाँ भी पहले देवताओं की पूजा हुआ करती थी। धीरे-धीरे मूर्त्ति-पूजा का केन्द्र भारत ही रह गया। बाकी देशों में धीरे-धीरे मूर्त्तिपूजा हट गई। कुछ हद तक चीन में भी बुद्ध की पूजा हुई। बल्कि आज के इस्लाम धर्म के मानने वाले देशों में सबसे पहले अरब देश में मूर्त्तिपूजा के विरुद्ध आवाज़ उठी थी। उस समय संसार के अनेक देशों में भगवान् बुद्ध की पूजा हुआ करती थी। विद्वानों का विचार यह है कि अरबों ने जो मूर्त्ति का नाम बुत रखा, वह इस बुद्ध शब्द का ही बिगड़ा हुआ रूप है। वैसे इसे निश्चय से तो नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अरब देश में इस्लाम के फैलने के पहले स्वयं तरह-तरह के देवताओं की मूर्त्तियाँ बना कर पूजा की जाती थी। जो हो, भारत में देवताओं की पूजा कितनी पुरानी है, इसके लिए यही

कहा जा सकता है कि मुख्य मुख्य देवता, जिनको ब्रह्मा, विष्णु और महादेव कहते हैं, इनको वेदों में भी देवता ही माना गया है और वेद, आज से ढाई हज़ार साल पहले जब कि भगवान् बुद्ध और भगवान् महावीर हुए थे, तब भी इतने पुराने माने जाते थे कि उनकी तारीख कोई नहीं बता सकता था। इतने पुराने देवता किसी भी देश में ज़िन्दा नहीं हैं। और जगहों पर कल के पूजे गये देवता आज दिखाई भी नहीं देते, देते भी हैं तो अजायबघरों में। उनकी पूजा नहीं होती। लोग उनकी जगह भगवान के दूसरे दूसरे रूपों की पूजा करने लगे। हमारे देश में अब भी पुराने-पुराने देवताओं की पूजा होती है। जो लोग इस पर गौर से नहीं सोचते वे कभी भी इस बात को नहीं समझते कि हमारे देवताओं का रूप भी समय-समय पर बदलता रहा है।

इस बात को जानने के पहले हमें दो बातें साफ़ तौर पर समझ लेनी चाहिएं।

पहली बात यह है कि संसार के पुराने देशों में अनेक तरह के देवताओं की पूजा होती थी। देवी-देवता हर मुल्क में हुए हैं।

मिस्र, बैबीलोनिया, अरब, यूनान, रोम, चीन, जापान आदि संसार के पुराने देशों में तरह-तरह के देवी देवता माने जाते थे। आज से हज़ारों साल पहले एक विचारक यूनान से निकला और उसने कई देशों की सैर की। उसने जब अपनी यात्रा का फल लोगों को सुनाया तो उस ज़माने की दुनिया में हलचल सी मच गई। उसने यह कहा कि आदमी के देवता आदमी के बनाये हुए हैं, जब कि पहले लोग समझते थे कि देवता आदमी के बनाए हुए नहीं हैं। यूनान के उस दार्शनिक ने अनेक देशों के हवाले देकर समझाया कि जहाँ-जहाँ वह गया, उसने वहाँ के देवता का रूप, उसकी पोशाक, उसकी पूजा का ढङ्ग और उसकी कहानी का रूप, उसी देश की सभ्यता और संस्कृति के अनुरूप पाया। उसने बताया कि जब वह मिस्र में गया तो उसे ऐसे देवता मिले जिनको देख कर भय अधिक लगता था, जो इसलिए वैसे बने कि मिस्र की सभ्यता में महान के प्रति भय की भावना ज़्यादा थी। उसने बताया कि यूनान के देवता अधिक मनुष्याकृति के थे और उनका रूप भी वैसा था, क्योंकि यूनानी सौंदर्य के प्रेमी थे।

आगे चलकर यहूदी और ईसाई तथा इस्लाम धर्म के फैलने पर परमात्मा

का निराकर रूप क्रम से जिहोवा, भगवान् और अल्लाह के नाम से माना जाने लगा और इन देशों के देवी-देवता करीब करीब खो गये।

दूसरी बात यह है कि इस भारत में भी अनेक तरह के देवी-देवता हुए जो क्रमश: खो गए। आज से लगभग बारह सौ बरस पहले तक हेरुक नाम का एक देवता था, जिसका आज नाम भी सुनाई नहीं देता। इसी तरह जम्भल देवता था, जो अब नहीं मिलता। एक समय यह माना जाता था कि भगवान महादेव के अनेक रूपों में उनका एक रूप ऐसा भी था जिसमें उनके पूंछ थी। उस रूप को लांगूल महादेव कहा करते थे। आज ऐसे पूंछ वाले महादेव को सिंदूर लगा कर हनुमान की मूर्त्ति समझ कर पूजा की जाती है। उसी लांगूल महादेव को लाँगुरिया कहा जाता है।

एक समय इस देश में एक सम्प्रदाय था जो गणेश की पूजा करने के कारण गाणपत्य कहलाया था और गाणपत्य लोग ईरान तक फैले हुए थे। आज से लगभग एक हज़ार साल पहले वह सम्प्रदाय अलग नहीं रहा, बल्कि सारे समाज में घुलमिल गया।

ऐसी बहुत सी कहानियाँ पाई जाती हैं कि एक समय तक किसी देवता की पूजा नहीं की जाती थी, लेकिन बाद में उसकी भी पूजा होने लगी। बंगाल की बहुत प्रसिद्ध बेहुला की कहानी में साफ-साफ दिखाई देता है कि पहले नाग-माता मनसा देवी की पूजा हिंदुओं के ऊंचे वर्णों में नहीं होती थी, लेकिन बाद में मनसा नाग-माता को महादेव की बेटी मान लिया गया।

यहाँ तक कि आज से हज़ार बारह सौ या ज़्यादा से ज्यादा १४०० बरस पहले लिखे गए श्रीमद्भागवत जैसे महान् ग्रन्थ में भी राधा का नाम कहीं ढूंढे से भी नहीं मिलता जो यह ज़ाहिर करता है कि उस समय तक कृष्ण के विष्णु का अवतार मानने वाले बहुत से लोग राधा का नाम भी नहीं लेते थे। लेकिन कुछ ही सदियों के बाद राधा और कृष्ण का नाम ऐसा मिला हुआ मिलता है कि हम उन्हें एक दूसरे से अलग करके देख ही नहीं सकते।

एक ही भगवान के भारत में अनेक-अनेक रूप भी दिखाई देते हैं। भगवान् शिव अपने एक रूप में चिताओं की भस्म लपेटे रहते हैं, दूसरे रूप में वे बिल्कुल काले भैरव बने मिलते हैं, चारों तरफ कुत्ते खड़े रहते हैं, तीसरे रूप में वे सर्व-

नाश करने वाले ताण्डव नृत्य में लगे दिखाई देते हैं, चौथे रूप में वे कैलास पर्वत पर मिलते हैं, गोया उनके रूपों का कोई अन्त ही नहीं है। यही भगवान् शिव हमें सबसे पहले जब ऋग्वेद में वर्णित मिलते हैं तो उनके सिर जटायें उगी हैं। आगे चलकर जब उपनिषदों में उनका नाम आता है तब भी वे अकेले हैं, पशुओं की रक्षा करते रहने की उनसे प्रार्थनाएं की जाती हैं, उमा पार्वती से उनका कोई नाता नहीं है। और बाद में जब हम उन्हें महाभारत और पुराणों में देखते हैं तो उनके उमा नामक स्त्री है, नन्दी उनका वाहन है, कहीं वे नंगे हैं, कहीं कपड़े पहने हैं, कहीं बाघम्बर ओढ़े हैं। यों एक ही देवता के इतने रूप देखने का हमें अभ्यास हो गया है, क्योंकि शिव हमारे मन में, समाज में, धर्म में, कला में, रम गए हैं, लेकिन उन्हीं को जब कोई विदेशी आकर देखता है तो वह समझ ही नहीं पाता, भौंचक रह जाता है।

यह कैसे आश्चर्य्य की बात है कि भगवान् शिव कभी अवतार नहीं लेते और भगवान् विष्णु बार बार अवतार लेते हैं? भगवान् बुद्ध ने वेदों को नहीं माना, वे परमात्मा और आत्मा को भी नहीं मानते थे, लेकिन वे ही भगवान् बुद्ध अपनी मृत्यु के १५०० या १६०० बरस बाद हमें विष्णु के अवतार के रूप में मिलते हैं और विष्णु के भी मुख्य दस अवतारों में उनका नाम गिनाया गया है!

यह तमाम बातें हमें बताती हैं कि हमें अपने देवताओं के जीवन के बारे में कुछ सोचना चाहिए।

— ३ —

हमारे सामने अनेक प्रश्न उठ खड़े होते हैं। हम पूछते हैं कि आखिर इस नये युग में उनकी जरूरत क्या है? जरूरत को समझने के लिए हमें उन पर नजर डालनी चाहिए।

हमारे देवी देवता कितने हैं? इसके जवाब में यहाँ आमतौर पर कहा

जाता था कि हिन्दू तेंतीस करोड़ हैं, और उतने ही देवता भी हैं। यानी मतल
यह हुआ कि जितने आदमी हैं, उतने ही देवता भी हैं। लेकिन आमतौर प
हम देवी देवताओं के बारे में इस तरह विभाजन कर सकते हैं।

हमारे देश में उपासना यानी पूजा करने के इतने तरीके खास हैं—

पहला तरीका है खुली धरती पर बिना मूर्त्ति धरे पूजा करना। इस तरी
में एक वेदी बनाई जाती है। उस वेदी पर अग्नि को रखा जाता है और उस
चारों तरफ बैठकर मन्त्र-पाठ होता है। इसमें देवताओं को बुलाया जाता है
उनकी तारीफ़ गाई जाती है। उनके स्वरूप का वर्णन भी होता है, उनको बलि
भी दी जाती है, लेकिन उनकी मूर्त्ति नहीं रखी जाती। इस तरीके को यज्ञ कह
हैं। यह यज्ञ प्रणाली आर्य्यों में चलती थी। इतना जरूर पता चलता है कि इ
प्रणाली का राक्षस और दानव इत्यादि जातियाँ विरोध करती थीं, वे यज्ञ क
नाश करती थी। महादेव जी ने भी यज्ञ का नाश किया था, जो प्रगट करता
कि पहले आर्य्य लोग महादेवजी की भी पूजा नहीं करते थे। यज्ञ में जिन देव
देवताओं की पूजा की जाती थी, वे वैदिक देवी देवता कहलाते हैं, क्योंकि उनक
वर्णन वेदों और उपनिषदों मे आता है। उनमें से मुख्य हैं द्यौस और पृथ्वी
अदिति और आदित्य, अग्नि, सूर्य्य, इन्द्र, इन्द्राणी, अश्विनीकुमार, उषा, पूषन्
जो सूर्य्य का ही एक रूप है, मित्र—जो भी सूर्य्य का ही एक और रूप है, वरुण
यम, पर्जन्य, वायु, मरुद्‌गण, सोम, त्वष्ट्र या विश्वकर्मा। यह नहीं कि इन
अलावा और देवता वेदों में नहीं हैं, वरन् यही देवता विशेष पूज्य माने गये है
औरों का भी उल्लेख हुआ है।

स्वामी दयानन्द ने उन्नीसवी सदी में जब आर्य्य समाज की स्थापना क
थी तब आर्य्यों की इसी प्राचीन यज्ञ की परम्परा को फिर से चालू करने क
कोशिश की थी, क्योंकि बुद्ध और महावीर और अहिंसक वैष्णवों के निरन्त
प्रचार से यह प्रथा करीब-करीब भारत से व्यवहार में उठ ही गई थी। स्वाम
दयानन्द ने इसी प्रथा को आर्य्य प्रथा माना था और हिन्दू पुराणों में पूज्य मा
जाने वाले देवताओं और उनकी मूर्त्तियों की पूजा का खंडन किया था।

उपासना का दूसरा तरीका है मन्दिर बना कर मूर्त्ति स्थापित करना। ब

बड़े द्वार, तोरण बनाना, घंटे लटकाना और पूजा करना। इस तरीके की पूजा का वर्णन हमारे वेदों, उपनिषदों और महाभारत में नहीं मिलता, जो यह प्रकट करता है कि यह प्रथा आर्य्यों ने बाद में ही अनार्य्यों से अपनाई होगी। इन मन्दिरों में हमें तमाम पौराणिक देवता मिलते हैं। ब्रह्मा, सरस्वती, विष्णु, लक्ष्मी, श्रीदेवी, भू-देवी, कामदेव, जगन्नाथ, परशुराम, रेणुका, कृष्ण, राम, गंगा, शिव, पार्वती, नंदी, यमुना, नाग, बुद्ध, मत्स्यावतार, कूर्मावतार, वराहावतार, नृसिहावतार, वामनावतार, बलराम, रेवती, हनुमान, पंचानन, उमा, दुर्गा, दशभुजा, सिंहवाहिनी, महिषमर्दिनी, जगद्धात्री, काली, मुक्तकेशी, तारा, छिन्नमस्तका, जगद्गौरी, प्रत्यंगिरा, अन्नपूर्णा, गणेश जननी, कृष्णक्रोड़ा, गणेश, कार्तिकेय, सूर्य्य, शनिश्चर, गरुण, महावीर, ऋषभदेव इत्यादि न जाने और कितने हैं जिनकी मूर्त्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं। इनमें से कितने ही देवता ऐसे हैं जिनका नाम वेदों में आता है। लेकिन वेदों में उनका जो रूप दिया गया है, वह और है, जो रूप मन्दिरों में और पुराणों में आता है, उसमें उससे फ़र्क है, जो बतलाता है कि पहले की तुलना में यह देवता आगे चलकर नये रूप धारण कर गये हैं।

तीसरी तरह की पूजा है चैत्य पूजा। चैत्य कहते हैं चबूतरे को, या किसी पेड़ के नीचे बने चौंतरे को। यह खुली हवा मे बने रहते हं। हम अक्सर वृक्ष-देवता, नागदेवता, लिगदेवता, हनुमान, धेन्की, षष्ठी, मनसा, शीतला, भूतप्रेत, पिशाच, पक्षि देवता, यक्ष देवता इत्यादि की पूजा होते हुए ऐसे स्थानों पर देखते हैं। चामुण्डा की पूजा अक्सर ऐसी ही जगह होती है। उसे हम लोग चामंड़ कहते हैं। दक्षिण भारत में ऐसे ही मारीअम्मा देवी की पूजा होती है। हिमालय प्रदेश में ऐडी, सैम, हैरू और ग्वाल्ल देवताओं, पषाणदेवी आदि की पूजा ऐसे ही की जाती है। ऐड़ी, सैम आदि तो इतने पुराने देवता हैं कि इनका नाम महाभारत में आता है। मातृकाएं, जिन्हें माता कहा जाता है, ऐसी ही जगह मानी जाती हैं। उपासना के इस तरीके में विचित्र-विचित्र देवताओं की पूजा होती है। महाभारत में लिखा है कि जब बृहद्रथ वंश का राजा जरासंध मगध में राज्य करता था तब उसकी राजधानी गिरिव्रज में चैत्य बहुत थे जिनमें सुन्दर बाग लगाये जाते थे। वहाँ मणिभद्र यक्ष नामक देवता की पूजा की जाती थी। वहाँ जरा नामक राक्षसी की भी पूजा होती थी। मगध पहले अनार्य्य भूमि मानी

जाती थी। महाभारत के बाद गौतम बुद्ध के समय में भी हमें चैत्य पूजा का बहुत वर्णन मिलता है। स्वयं बौद्ध लोग अपने मन्दिरों को चैत्य कहते थे। बुद्ध के बाद भी बहुत समय तक चैत्यों में नाग, वृक्ष, यक्ष और यक्षी देवता आदि का निवास माना जाता था। बुद्ध के समय में चैत्य पूजा इतनी अधिक थी कि सुजाता नाम की स्त्री ने जब बुद्ध को पेड़ के नीचे बैठे देखा तो उन्हें वृक्षदेवता ही समझा। उपासना का यह तरीका बहुत आसान है। अधिकतर लोग मूर्त्ति या वृक्ष पर जल चढ़ाते हैं, फूल चढ़ाते हैं, धूप दीप आदि धरते हैं। यह पूजा आज भी सबसे अधिक चलती है। लेकिन चैत्य पूजा में वैदिक देवताओं को स्थान नहीं मिलता, न राम-सीता और राधा-कृष्ण को ही। शिव ही चैत्य पूजा में आज प्रमुख पौराणिक देवता हैं। चैत्यपूजा में मुसलमान पीर भी आ जाते हैं, जिन्होंने जनता में अपना स्थान बना लिया था। जहाँ तक देवी पूजा का सवाल है हमें देवी के स्थान बहुत ही बीहड़ और सुनसान तथा सुन्दर दृश्य वाली जगहों में मिलते हैं। तन्त्र और मन्त्र की जो भयानक लगने वाली बातें सुनाई देती हैं, उनका सम्बन्ध हम यक्ष प्रथा और मन्दिरों की पूजा प्रथा से तो बिरली ही कथाओं में पाते हैं, परन्तु चैत्य पुजा से अधिकतर उनका सम्बन्ध जुड़ा पाया जाता है। चैत्यपूजा के देवी देवता प्रायः भयानक होते हैं। साथ ही संसार भर का उद्धार करने वाले शिव-पार्वती भी यात्रा करते हुए, लोगों का दुख मिटाते हुए मिलते हैं, तो इन्हीं चैत्यों में। चैत्य पूजा यक्ष जाति में चलती थी और आर्य्यों ने इसे बाद में अपनाया था।

यह हमारे देश की तीन प्रकार की मुख्य-मुख्य रीतियाँ हैं जिनके द्वारा उपासना होती है। गिरजे, गुरुद्वारे, मस्जिदें वास्तव में यज्ञ की तरह की उपासनाएं हैं, जिनमें सभाएं होती हैं। अगर इमारत न हो तो भी वे हो सकती हैं। रोमन कैथोलिक ईसाईयों में गिरजों में मूर्त्तिपूजा भी चलती है। परन्तु उनका भी काम ईसा मसीह के नाते खुली सभा में चल जाता है। किन्तु मन्दिर प्रथा और चैत्य प्रथा विशेषतया अब भारत में ही पायी जाती हैं।

हमारे सारे देवी देवता इन तीन तरह की पूजा के अन्दर आ जाते हैं।

हम यह नहीं कह सकते कि कौन से सम्प्रदाय कौन से देवताओं को मानते हैं। यह तो है ही कि शैव शिव को और वैष्णव विष्णु के रूपों को मानते हैं,

लेकिन इतना कहना ही तो काफ़ी नहीं है। गौंड जाति के लोग अपने को हिन्दू नहीं मानते, लेकिन वे शिव की पूजा करते हैं। पीरों की पूजा हिन्दू करते हैं। एक ही आदमी महादेव के चैत्य में जल चढ़ाकर, विष्णु मन्दिर में आरती को दण्डवत करके, पीरों की मनौती मानता, चामड़ मैया को लोहबान जलाता, भैरों जी की परिक्रमा करके, जमुना जी को दीपदान करके लौटते में रास्ते में साँड़ को नन्दी का रूप मानकर कुछ खिलाता हुआ लौटता है और रास्ते में वृक्षों और भूतों को प्रणाम करता आता है। किसी एक देवता को मुख्य मानकर भी हिन्दू करीब-करीब सबको अपना मानता है। अब तो महावीर जैन तीर्थङ्कर को भी जनता नंगा बाबा कहकर पूज्य मानती है। हाँ, जनता में भगवान् बुद्ध का नाम नहीं रहा है। कितने आश्चर्य की बात है कि जो बौद्ध सम्प्रदाय आज से ढाई हज़ार वर्ष पहले जन्मा और जिसका इसी भारतभूमि पर १८०० बरस तक बड़ा भारी ज़ोर रहा, जिसके असंख्य मन्दिर बने, जिसका नाम देश-विदेश में हज़ारों मीलों तक फैल गया, जिसको मानने वाले आज भी एशिया में करोड़ों आदमी हैं, वह हिन्दुस्तान की जनता में से बिल्कुल ही खो गया। इसका कारण है कि बौद्ध धर्म का रूप बिल्कुल बदल गया था। अधिकतर बौद्ध इस्लाम की गोद में चले गये, और बाकी शैव और वैष्णव बन गये।

वैसे आज भी अलग-अलग केन्द्र हैं जहाँ विष्णु और शिव को प्रधानता दी जाती है, लेकिन हिन्दू तो सभी को मानता है। ऊपर उपासना के तीन मुख्य रूप बताये गए हैं। इनके अतिरिक्त तीर्थों की पूजा भी हिन्दुओं में अभी तक चालू है, जो उपासना का चौथा तरीका है।

यों हमारा समाज इतनी मिली-जुली विचार-धाराओं का है कि हम कुछ अच्छी तरह से काँट-छाँट नहीं कर सकते।

तीसरा सवाल है कि हमारे देवी-देवताओं की पूजा कितनी पुरानी है?

इस सवाल का जवाब असल में इसी के जवाब में मिल जायेगा कि हमारे देवी-देवताओं का विकास कैसे हुआ! इसलिए अब इसी पर विचार करना आवश्यक है।

— ४ —

हमारे देवी देवता कई प्रकार के हैं। हम उनका विभाजन मोटे तौर पर यों कर सकते हैं—

एक पहले आदमी जंगली था। तब वह न आज जितना ज्ञानी था, न विज्ञानी। वह अन्धेरे को देख कर डरता था, उजाले से खुश रहता था। वह पहाड़ के सामने चिल्लाता था तो गूंज आती थी। उससे उसे डर लगता था। वह समझता था कि पहाड़ बोलता है। वह ज्वालामुखियों को फटते देखता था तो थर्रा उठता था। इन सबको वह विचित्र मानता था और उसे लगता था कि यह सब भयानक हैं। इसी भय के कारण उसने इन सबकी आत्मा को भयानक माना और उनको प्रसन्न करने लगा। उस प्रसन्न करने की चेष्टा का नाम ही पूजा पड़ा। सारे संसार के बहुत पुराने देवी देवता बलियों के प्यासे और भयानक देवता हैं। ऐसे ही देवताओं में महादेव का भैरव रूप है जिसे नर बलि दी जाती थी, कपर्दी रूप है जो कि पशुओं का संहार करता था, देवी का महिष-मर्दिनी रूप है, जिसे भैंसे की बलि दी जाती थी। इसी तरह अनेक यक्ष देवता थे, जिन्हें माँस की बलि लगती थी और जिनके मुँह बहुत ही लाल-लाल और डरा-बने माने जाते थे। भूत, प्रेत इत्यादि बहुत से देवी देवता इसी वर्ग में आते हैं।

दो टॉटेम और टैबू का सिद्धान्त बहुत ही दिलचस्प है और इसको समझते ही हमारी बहुत सी समस्याएं सुलझ जाती हैं। पुराने समय की बात कहने के पहले आज की बात ही लें। बहुत से चमारों का गोत्र पिप्पल यानी पीपल होता है। कुछ अपना गोत्र नीम बताते हैं। सोचने की बात है कि क्या कोई पीपल या नीम की सन्तान हो सकता है? दक्षिण भारत में अनेक जातियों के नाम द्रविड़ भाषाओं में ऐसे हैं कि अगर उनका हम हिन्दी में अनुवाद करें तो निकलेगा— छिपकली, भालू, बन्दर, कुत्ता, बिल्ली, सियार, मछली, नाग, गरुड़ इत्यादि। बहुत से बंगालियों का जाति नाम अब भी नाग होता है। क्या सचमुच ऐसा नाम इसलिए रखा जाता है कि आदमियों का पशुओं से सम्बन्ध होता है? हमारे देश में कहा जाता है पहले बन्दर, पक्षी, गिद्ध आदि मनुष्य की तरह बातें

करते थे जैसे हनुमान, सुग्रीव, जटायु इत्यादि । नागों का राज्य हुआ करता था जैसे कालिय, वासुकि और तक्षक इत्यादि । तो क्या वे सब सचमुच जानवर और चिड़िया थे ? नहीं । इस बात को समझने के लिए हमें बहुत पीछे जाकर देखना होगा ।

आज भी बच्चे कहते हैं कि पेड़ हिलेगा तो हवा चलेगी । समझदार आदमी कहता है कि चलेगी तो पेड़ हिलेगा । आज भी अधिकतर बच्चे जो तस्वीरें बनाते हैं, उनको यदि हम लेकार पुराने समय में गुफाओं में रहने वाले आदमियों द्वारा बनाए चित्रों से तुलना करें तो हमें उनमें काफी समानता दिखाई देती है । यह प्रगट करता है कि आदिम युग के आदमी की विचारशक्ति बहुत कम थी । उस समय मनुष्य दल बना कर करता रहा था । उस समय के मनुष्य ने अपने चारों ओर की प्रकृति को समझने का प्रयत्न किया ।

मिसाल के तौर पर एक जाति है । वह एक तालाब के पास रहती है । उसे अन्न उपजाना तो आता नहीं । वह शिकार करती है, खाती है । तालाब में मछलियाँ हैं । यानी मछलियाँ उसका भोजन हैं । उसका भोजन उसका जीवन है । यानी मछलियाँ उसका जीवन हैं । यानी मछलियाँ हैं तो वह जीवित है, मछलियाँ नहीं हैं तो वह जी नहीं सकता । यानी मछलियाँ बहूत अच्छी हैं । जाति में बड़े लोग छोटों के लिये मछलियाँ लाते हैं । मर कर वे बड़े लोग कहाँ जाते हैं ? वे शायद मछलियाँ बनते हैं । मछलियों से जाति का जन्म हूआ है । यानी हम मछलियाँ हैं । मछलियाँ अच्छी हैं । यानी मछलियाँ पूज्य हैं, और इसी तरह एक दिन मछलियाँ देवता बन जाती हैं । सारी जाति मछली की संतान है । इतने दिनों में जाति अपने पुराने स्थान को छोड़ जाती है क्योंकि पुराने समय के मनुष्य घुमन्तू हैं । अब मछली सम्मान की चीज है । जो मछली मारता है वह जाति का शत्रु है । मछली नहीं मारनी चाहिये । इस प्रकार मछली देवता का जन्म होता है । यह टॉटेम है ।

दूसरा उदाहरण है । एक दल है । वह पर्वत पर रहता है । पर्वत से उसका जीवन चलता है । पर्वत उसका देवता बनता है । यह भी टॉटेम है ।

एक दल है । उसे शेर मिलते हैं । शेर नाश करता है । शेर लहू पीता है । माँस खाता है । तो उसे माँस और रक्त की बलि देनी चाहिये । उपासना प्रारम्भ

होती है। शेर देवता बन जाता है। यह भी टॉटेम है।

एक दल है। उसे नाग मिलते हैं, डसते हैं, जान ले लेते हैं। डरकर वह उनकी पूजा करता है। वह टॉटेम बनता है।

एक दल है। उसको नागों ने जंगल में सता रक्खा है। नागों को गरुण मारते हैं। तो गरुड़ नागों का शत्रु है, यानी दल का रक्षक है। इस तरह गरुड़ देवता बनता है। यह भी टॉटेम है। नाग की पूजा करने वाला गरुड़ की पूजा करने वाले का शत्रु है, क्योंकि नाग गरुड़ का शत्रु है। गरुड़ की पूजा करने वाले के लिये नाग टैबू है।

एक दल है। वह रोज़ सूर्य्योदय देखता है। वन में लाल मुख के बन्दरों को भी देखता है। सूर्य्य सुबह लाल-लाल सा मुंह लिये आता है। आकाश में छलाँग मारकर दूसरी तरफ़ जाता है। और फिर लाल-लाल मुंह चमकाता है। फिर अंधेरे के पेड़ को झकझोरता है। जैसे पेड़ों से फूल झरते हैं, तारे झलक आते हैं। सूर्य्य बन्दर है? तो बन्दर पूज्य है। बन्दर टॉटेम बनता है।

एक दल है। वह समुद्र के किनारे रहता है। वह, गिरे हुए वृक्षों को पानी में बहते देखता है और उनसे नावों का काम लेता है। उसे सूर्य्य पानी में से ही निकलता दिखता है, पानी में ही डूबता दिखता है। तो सूर्य्य तैर कर आता है और तैर कर जाता है। सूर्य्य आकाश में नाव चलाता है। एक नये देवता का टॉटेम बनता है।

पर्वत पर एक दल रहता है। वह गिद्ध को उड़ते देखता है। सूर्य्य भी आकाश में उड़ता है। तो सूर्य्य भी गिद्ध ही है। गिद्ध देवता है। टॉटेम है।

एक जाति गाय खाती है। बाद में वह कहीं बसकर रहती है। खेती करती है। खेतों में बैल चाहिये। गाय को खाने से नुकसान होता है। गाय नहीं खानी चाहिये; क्योंकि गाय जाति को पालती है। गाय माता की तरह दूध देती है। गौ पूज्य है। गौ की रक्षा करना धर्म है। गाय टॉटेम बनती है।

रेगिस्तान में एक दल कहीं जंगलों में खेती करता है। जंगली सूहर खेत उजाड़ते हैं। जंगली सूहर शत्रु है। वह टैबू बनता है।

एक और दल है। वह देखता है जंगली सूहर अन्य भयानक पशुओं को भगा देता है। उसे वह अच्छा लगता है। वह उसका टॉटेम बनता है। यह दल पहले

दल का शत्रु बन जाता है।

टॉटेम और टैबू के इसी प्रकार के विकास से मनुष्य के विभिन्न दलों में विभिन्न पशु, पक्षी, वृक्ष, पर्वत, नक्षत्र, बिजली, बादल और प्राकृतिक वस्तुएं उसकी उपासना का पात्र बन जाती हैं, या शत्रु बन जाती हैं। वह अपने को आगे चलकर देवता से इतना जोड़ लेता है कि वह उस देवता के नाम को ही जाति का पर्य्याय बना देता है। ऐसी ही टॉटेम जातियों के देवता बानर, गिद्ध, गरुण, नाग, कच्छप, कुक्कुर यानी कुत्ता, श्येन यानी बाज, मण्डूक यानी मेंढक इत्यादि बने और उन्हीं के नाम पर जातियों के भी नाम पड़े। ऐसी बानर जाति के हनुमान, बालि, सुग्रीव थे जो बड़े विद्वान् थे, ऐसी बानरी तारा थी जो बड़ी सुन्दरी थी। ऐसे ही गृद्ध जटायु और सम्पाति थे। ऐसे ही गरुड़ जाति के लोग थे। ऐसे ही कालिय और वासुकि वंश के नाग थे। इसी तरह भारतीय देवी-देवताओं में अनेक टॉटेम जातियों के उपास्य इकट्ठे हो गये हैं।

तीन। मनुष्य ने प्रकृति की वस्तुओं को देखा। उसने उनमें आत्मा को माना। पहले उसने प्रत्येक की आत्मा को मनुष्य के रूप में पहुँचाने की कोशिश की। पर्वत का एक देवता है, परन्तु जब वह देवता बन जाता है तब वह मनुष्य बन जाता है। ऐसे ही तीर्थस्थान, वृक्ष, नदी, वन, पर्वत, सागर, रेगिस्तान आदि देवता हैं। पुष्कर, प्रयाग, शमी (छोंकरे का पेड़), पीपल (अश्वत्थ), विंध्याचल का वन, नैमिषारण्य, हिमालय, हिन्द महासागर आदि के देवता रूप बने।

चार। जैसे-जैसे मनुष्य के समाज में विकास हुआ उसमें अक्ल आती गई। पहले मनुष्य नहीं जानता था कि बच्चा कैसे जन्म लेता है। वह तो स्त्री के शरीर में से बच्चे को आते देखता था। स्त्री उसके लिये रहस्य थी। तब स्त्री की ही समाज में सत्ता थी। वह स्त्री की जननेन्द्रिय को बहुत पूज्य मानता था, उसको सिर झुकाता था। हमारे तन्त्रों में जो पहला त्रिकोण△बनता है वह उसी का रूप है। बाद में उसे धीरे-धीरे पता चला कि स्त्री तभी बच्चे को जन्म देती है जब कि पुरुष उसे वीर्य्य देता है। वीर्य्य वह लिंग के द्वारा देता है। तब असली देवता लिंग बना। वही शिव-लिंग है। जिस तरह हल धरती को जोतता है, लिंग स्त्री को जोतता है। स्त्री खेत यानी क्षेत्र है। स्त्री पुरुष की सम्पत्ति है। बहुत समय

बाद मनुष्य ने अनुभव किया कि स्त्री और पुरुष दोनों मिलकर सृष्टि करते हैं तब तन्त्र का दूसरा उल्टा त्रिकोण बना जो पहले में लगाया गया—यह पूर्णत
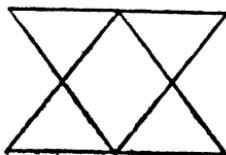
मानी गई। बहुत बाद में इसका दार्शनिक अर्थ किया गया और तन्त्रों में पूर्णत्व का चिन्ह यों बना—
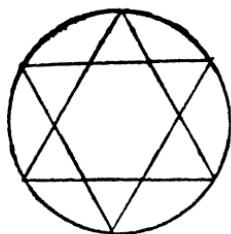
जिसका अर्थ हुआ कि ब्रह्माण्ड में शिव शक्ति का मिलन हो रहा है।

जैसे-जैसे मनुष्य के समाज में सुधार होते गये वह भयानक देवताओं की जगह कोमल, करुण, दयालु देवताओं की पूजा करता गया।

पहले शिव का भयानक रूप दिखाई देता है, लेकिन आगे चलकर शिव भोलानाथ बन गये, आशुतोष बने, गरीबों के देवता बने, जिनकी पूजा के लिए आडम्बर की जरूरत नहीं।

पहले विष्णु के अवतार पशुओं के रूप में मिलते हैं, बाद में वे मनुष्य के रूप में मिलते हैं। परशुराम बड़े वीर हैं, परन्तु नाश करने वाले हैं। राम वीर हैं, परन्तु दुष्ट का दमन करके प्रजा का पालन करते हैं। कृष्ण यह सब करते हैं किन्तु वे सुन्दर भी हैं, नृत्य, गीत और कोमलताओं के आधार हैं। राम दार्शनिक नहीं हैं। कृष्ण तो गीता के दार्शनिक हैं। और बाद की सदियों में जब बौद्ध लोग वैष्णव धर्म में आते हैं तब उनके असर से बुद्ध भी अहिंसा, दया, करुणा और शान्ति के प्रतिनिधि के रूप में विष्णु के ही अवतार बन जाते हैं।

पहले काली भयानक देवी है। वह नरमुण्ड चबाया करती है। पीछे वह पार्वती जैसी बनती है, जो कि पवित्र है और तपस्विनी है।

इसी प्रकार बहुत से देवताओं का विकास होता है।

पांच। कई देवी-देवता मनुष्य के समाज की जरूरतों के रूप में पैदा हुए हैं।

पहले विष्णु को अश्वमुखी यानी घोड़े के मुख वाला देवता माना जाता था। वेद में विष्णु को सूर्य्य कहा गया है। लेकिन पाँचरात्र उपासना में विष्णु अश्व-मुख भी हैं, सूर्य्य भी। आज भी विष्णु को अश्वमुख या हयग्रीव के रूप में पहला रूप धारण करने वाला माना जाने के कारण विष्णु मन्दिरों में प्रसाद के रूप में चने बाँटे जाते हैं। यह हयग्रीव विष्णु सृष्टि करने वाले विधाता यानी ब्रह्मा से समझौता करते हैं। महाभारत में यह कथा आई है। समझौते के नतीजे से दोनों दोस्त बनते हैं। महाभारत की एक और कथा में विष्णु और गरुड़ का समझौता होता है। पुराणों में कई कथाएं हैं कि शिवजी नाग और गरुड़ की मित्रता कराते हैं।

किसी विशेष कारण से जब हाथी की उपासक गणेश जाति का चूहे की उपासक मूषक जाति से दोस्ताना हो जाता है तो गणेश और मूषक साथ ही बनाये जाते हैं।

इसी तरह बौद्धों ने बोधिसत्व देवता बनाया क्योंकि वे समाज में जीवित रहना चाहते थे। बौद्ध धर्म जब पैदा हुआ था तब वह नीरस था और केवल कठिन जीवन विताकर ही भिक्षु को निर्वाण यानी मुक्ति मिल सकती थी। बाद में उतना कठिन रास्ता लोगों को नहीं रुचा। तब तक भारत में विदेशी जातियाँ

भी आ चुकी थीं जैसे यूनानी और शक, कुषाण, इत्यादि। उनको नीरस जीवन कभी पसन्द नहीं आ सकता था। तब बौद्धों में बोधिसत्व देवता का जन्म हुआ जो आसानी से लोगों को मुक्ति दे सकता था। गौतम बुद्ध जो भगवान् नहीं मानते थे, उनके चेलों ने उन्हीं को भगवान् बना दिया। ऐसा ही जैनों ने भी किया और परमात्मा को न मानने वाले जैनों ने चौबीस तीर्थङ्कारों को परमात्मा बनाकर पूजा करना शुरू किया।

पहले आर्य्य लोग शक्ति को नहीं मानते थे, किन्तु बाद में उन्हें अनार्य्यों के सम्बन्धों के कारण मानना पड़ा। तब उन्होंने यह माना कि हर देवता में से उसका अपना अंश निकला, वह सब मिलकर शक्ति बनी और वही शिव की स्त्री बनी,

महाभारत में इस तरह की बहुत-सी कथाएं हैं। एक स्थान पर कहा गया हैं कि इन्द्र ने शिव के गले पर वज्र मारा इसलिये वे नीलकण्ठ हो गये। दूसरी जगह कहा हैं कि विष्णु के त्रिशूल मारने से शिव का गला नीला हो गया। आम तौर पर यही कहानी प्रसिद्ध है कि देवों और असुरों के समुद्र मथने के समय जब हलाहल निकला तब उस कालकूट विष को पी लेने से शिव का गला नीला हो गया।

महाभारत में ही लिखा है कि पहले ज़माने में हिमालय के उत्तर में एक स्वर्ग नामक जगह थी और वहाँ रहने वालों को देवता कहा जाता था।

यही नहीं कि बीते जमाने की ही कल्पनाएं मनुष्य ने की हैं। उसने भविष्य का भी सुपना देखा है। ऐसी ही उसकी कल्कि अवतार की कल्पना है। जब उसने समाज के पुराने कायदों को टूटते देखा तो उसे दुख हुआ। पुरोहितवर्ग ने उस समय उस युग का वर्णन किया और हमारी हारती हुई जनता में यह हिम्मत भरी कि बचाने वाला आयेगा, अभी से हारो मत। इस विचार ने जहाँ यह खयाल लोगों में भरा कि हाय सब नष्ट होता चला जाएगा, वहाँ यह भी हिम्मत दी कि एक दिन तो वह बचाने वाला आएगा ही, वह फिर धर्म को स्थापित करेगा।

छह। कुछ देवी देवता पहले मनुष्य थे परन्तु बाद में देवता मान लिए गये।

इन्द्र, वृत्रासुर, बृहस्पति, शुक्र, शनि, इत्यादि अपने समय के मनुष्य थे। बाद में वीर पूजा और पितर पूजा के कारण वे पूज्य बन गए। राम और कृष्ण भी पहले मनुष्य थे, बाद में भगवान माने गए।

किसी समय आर्य्यों का एक दल 'देव' कहलाता था। पितरों की पूजा करने वाले आर्य्यों में 'देव' लोग आगे चलकर देवता कहलाने लगे। यही नहीं, बल्कि उन देवों को जो राक्षस, किन्नर, गंधर्व, यक्ष, भूत, पिशाच, गुत्यक, अप्सरा, दानव, दैत्य, गरुड़, नाग आदि अनार्य्य जातियाँ मिली थीं वे भी देव योनि में गिन ली गईं।

सात। देवताओं का सम्मान सदैव एक सा नहीं रहा है। वह उठता गिरता रहता है।

पहले-पहल ऋग्वेद में वरुण, अदिति, अर्यमा, यम, अग्नि, भग आदि देवता प्रधान हैं। बाद में इन्द्र, अश्विनीकुमार, सोम, मरुद्गण आदि की स्तुतियाँ बढ़ जाती हैं। इनके बाद ब्रह्मा की इज्जत बढ़ती है। शिव की इस समय तक आर्य्यों में कोई खास इज्जत नहीं है। विष्णु को इन्द्र का छोटा भाई माना जाता है। धीरे-धीरे इन्द्र इत्यादि का बल घट जाता है। ब्रह्मा का जोर बढ़ा है। उपनिषदों में तो ब्रह्म ही सब पर छा जाता है। महाभारत में तो इन्द्र इत्यादि की छीछालेदार हो जाती है और बाद के पुराणों में तो लानत-मलामत भी होती है। तुलसीदास के रामचरितमानस में तो बेचारे देवताओं को बस फूल बरसाने का सा काम रह जाता है। महाभारत में शिव और विष्णु का सम्मान बढ़ जाता है। ब्रह्मा भी कुछ दूर तक साथ चलते है, पर बाद में ब्रह्मा की भी पूजा बन्द हो जाती है। पहले के छोटे देवता अब बड़े दिखाई देते हैं और उन्हीं का बोलबाला सुनाई देता है।

— ५ —

हमें भारत के देवताओं के विकास में कुछ विशेष बातें मिलती हैं।

अधिकतर भारतीय देवीदेवता शुरू से ही ज्ञात मिलते हैं, लेकिन अलग-

अलग सामाजिक परिस्थितियों में उनका मान बढ़ जाता है, और वैसे ही घट भी जाता है। उदाहरण के लिए जब-जब भारत पर विदेशियों ने आक्रमण किया है तब तब मुसीबत के वक्त में दुर्गा, शक्ति, काली आदि देवियों की पूजा हुई है। तुलसीदास ने तो कृष्ण को भगवान मान कर भी सिर तब ही झुकाने की शर्त लगाई थी जब कृष्ण अपने हाथ में धनुष-बाण उठा लेंगे। तुलसीदास तो ऐसे भगवान् को चाहते थे जो मुगल साम्राज्य के नीचे कुचली हुई जनता की रक्षा कर सके। कृष्ण तो उस समय लीलाधर भगवान थे सो तुलसीदास को कैसे पसन्द आते ?

अगर समाज में ज्यादा परिवर्त्तन आ गए हैं तो देवता भी अपना अधिकार खो देते हैं, या और अधिक पा जाते हैं। हम कह चुके हैं कि पहले विष्णु एक साधारण देवता था और उसे सूर्य्य देवता के रूप में भी समझा जाता था। उस समय इन्द्र ही देवताओं का राजा था। लेकिन जैसे-जैसे आर्य्य लोगों का अनार्य्य से सम्बन्ध बढ़ता गया, आपस में शादी ब्याह बढ़ते गए, तरह-तरह की विचार-धाराओं के लोग एक दूसरे के पास आने लगे। आर्य्य तब तक यह मानते थे कि ब्रह्म जिसका दूसरा नाम ब्रह्मा है, उसके मुख से ब्राह्मण, भुजाओं से क्षत्रिय, पेट से वैश्य और पाँवों से शूद्र निकले हैं। अब उनका यह विश्वास छोटा पड़ गया। उन्होंने देखा कि इन्द्र इत्यादि देवता केवल प्राकृतिक शक्तियाँ हैं। सूर्य्य, बादल यानी इन्द्र, अग्नि, वायु और जल यानी वरुण देवता तो प्रकृति के नियम चलाने वाली शक्तियाँ हैं। इन सबको भी चलाने वाली कोई ताकत है। वही शक्ति ब्रह्मा कहलाई। ब्रह्मा ही सिरजनहार बना। लेकिन जब अनेक अनेक जातियों से मिलन बढ़ा, तो हर एक जाति या कबीले के देवता से भी सम्पर्क स्थापित हुआ। कोई लिंग देवता को मानता था, कोई नाग को, कोई गरुड़ को। जब मिलन होता है तब फूट को हटाने की ज्यादा से ज्यादा कोशिश की जाती है। नतीजा यह हुआ कि सबके देवता एक दूसरे के देवता बनते गए। इन सब देवताओं के ऊपर इनका सिरजनहार माना गया, जो ब्रह्मा कहलाया। अब सारे देवता अपनी-अपनी जगह बने रहे, लेकिन इन सबके ऊपर ब्रह्मा का दर्जा माना गया, क्योंकि वही सारी सृष्टि को पैदा करने वाला था। तब विचारकों में सवाल उठा कि जब हर देवता का एक रूप है तो ब्रह्मा का रूप क्या है ? चुनांचे ब्रह्मा का भी चार

मुख वाला रूप माना गया। लेकिन यह रूप ज़्यादा चला नहीं। ब्रह्मा की शक्ति पर ही ज़ोर दिया गया। वह शक्ति ही मुख्य थी। उसे ऋषियों ने अब ब्रह्मा न कह कर ब्रह्म कहा। ब्रह्म का अर्थ है जानने के योग्य जो पूर्ण हो। क्योंकि वह ब्रह्म सब देवताओं से ऊपर था और सबमें व्याप्त माना गया, वह सबसे परे माना गया। यह तो बुद्धि के विकास का चिन्ह था। पहले पत्थरों, पशुओं, पक्षियों, पितरों और पूर्वजों आदि को ही देवता मानने वाली जातियों ने इतना विकास किया कि अब देवता तो छोटे हो गए, और वे जातियाँ सृष्टि के रहस्य को खोजने लगीं। उन्होंने कहा : ब्रह्म सबमें है, सबसे ऊपर है, सबसे परे है, उसे आदमी अपने ज्ञान से नहीं समझ सकता, क्योंकि आदमी का ज्ञान भी छोटा है। तब उस ब्रह्म को निराकर यानी बिना रूप का कहा गया। मुहम्मद साहब ने भी मूर्त्तियों के लिए होने वाले अन्ध-विश्वास को दूर करके अल्लाह का नाम बढ़ाया था। यही भारत में भी हुआ। लेकिन फर्क यह रहा कि अरब में मूर्त्ति-पूजा बिल्कुल उठा दी गई, और भारत में उसे निचले दर्जे की उपासना मान कर पनपने दिया गया।

ब्रह्म जब निराकर मान लिया गया तब जनता को उससे संतोष नहीं मिला। जनता तो एक ऐसा भगवान चाहती थी जो उसकी समझ में आ सके। आर्य्यों के ज़ोर में कमी आ रही थी। उस वक्त अनार्य्य जातियों के देवता उठने लगे। शीघ्र ही ब्रह्म यानी ब्रह्मा केवल विधाता रह गया। आर्य्यों का विष्णु देवता अनार्य्यों के देवताओं से मिल गया, और विष्णु ने सिर उठाया। विष्णु को पालने वाला माना गया। साथ ही संहार करने वाले देवता शिव के उपासक भी बढ़ चले। अब आपस में झगड़े होने लगे। कुछ ही सदियों के बाद लोगों ने महसूस किया कि झगड़ा व्यर्थ का ही है। परमात्मा तो एक ही है। ब्रह्मा रचता है, विष्णु पालता है, और महादेव मारता है। तीनों उसी परमात्मा के रूप हैं। फिर लड़ाई क्यों की जाये? नतीजा यह हुआ कि तीनों की उपासना शुरू हुई। इनको मिलाने का काम तो संत तुलसीदास तक बराबर चलता रहा। तुलसीदास ने शिव और विष्णु के उपासकों का झगड़ा मिटाने के प्रयत्न में ही कहा है—

शिव द्रोही मम दास कहावा,
सो नर मोंहि सपनेहु नहिं भावा।

सबसे बड़ी चीज जो जानने योग्य है, वह यह है, कि विष्णु और शिव की पूजा का बढ़ना जनता के विद्रोह की शक्ति का, अधिकार का बढ़ना है। ब्रह्मा तो आर्यों के उच्च वर्णों का प्रधान देवता था, जो वैदिक देवताओं के ऊपर हावी हो गया था। लेकिन ब्रह्मा से समाज की समस्याएं नहीं सुलझती थीं। समाज में यह जरूर मान लिया गया था कि भले ही ब्राह्मण मुख से और क्षत्रिय ब्रह्मा की भुजा से पैदा हुआ था, लेकिन परमात्मा के सामने सब बराबर थे। ब्रह्म के मानने वाले साथ-साथ हिंसक यज्ञ भी करते थे।

उस समय विष्णु की पूजा बढ़ चली। एक समय विष्णु मन्दिरों के उत्थान ने छूआछूत को बिल्कुल तोड़ दिया था। चाणक्य के समय में विष्णु के मन्दिर में ब्राह्मण और चाण्डल साथ साथ जाया करते थे, एक दूसरे को छूते थे। आपस की ऊंच नीच नहीं मानी जाती थी। उधर शिव के चैत्यों में सब जातियाँ जाती थीं। पूजा का कोई ढकोसला भी न था। एक पत्ता चढ़ाया, एक लोटा पानी। हो गई भोलानाथ की पूजा। भोलानाथ दुनिया का दुख हरने को संसार में चलते हुए माने गए। इधर विष्णु के बारे में यह कहा गया कि वे बार-बार भक्तों का दुख हरण करने को अवतार लेते हैं। ऐसे ही देवताओं की जरूरत थी, लिहाजा उनकी पूजा चालू हुई और ब्रह्मा की पूजा बन्द होती चली गई क्योंकि अहिंसा के आन्दोलनों ने यज्ञ रोक दिए। सारे भारत की जातियाँ एक दूसरे से मिल रही थीं। आपस का अलगाव दूर हो रहा था। विष्णु और शिव की पूजा का वेद से कोई खास सम्बन्ध भी न था। ब्रह्मा की पूजा वेद के मालिकों की चीज थी। वे ब्राह्मण और क्षत्रिय थे। विष्णु और शिव के लिए तो भक्ति की जरूरत थी। इन देवताओं की बाबत वेद में तो बहुत कम लिखा था, हाँ अब महाभारत और पुराण जैसी नयी किताबें बनती जा रही थीं, जिनमें इनकी चर्चा अधिक थी। इन किताबों को सुनने का अधिकार सब जातियों को था, शूद्रों, स्त्रियों को ही नहीं, विदेशी जातियों को भी था। इस प्रकार जनता के दबाब से दो पुराने मामूली देवता बढ़ते चले गए और यह तो खैर सच ही है कि जनता के दबाव के

पीछे समाज की नयी ज़रूरतों से पैदा हुए विचार थे, वे विचार थे जो आदमी की बढ़ती हुई इंसानियत और प्रेम के प्रतिनिधि थे। इसीलिये यह देवता भी दयालु, रक्षक और स्नेह करने वाले कहलाये।

सच तो यह है कि हिन्दू धर्म इन बहुत सी जातियों के धर्मों की मिलावट है। विष्णु और शिव इस मिलावट के दो बड़े प्रतिनिधि हैं।

इसलिये ब्रह्मा, विष्णु और शिव के रूपों को देखना आवश्यक है।

— ६ —

ब्रह्मा के चार मुख हैं। पांचवां शिव ने काट दिया था क्योंकि ब्रह्मा ने अपनी बेटी सरस्वती से शादी कर ली थी। इससे प्रगट होता है कि शिव के उपासकों को आर्य्यों के बहुत से शादी ब्याह के रीति-रिवाज पसन्द नहीं थे। ब्रह्मा चार मुखों से वेद बोलते हैं। इसके अतिरिक्त उनकी अपनी कोई विशेषता नहीं है। आगे के समय में ब्रह्मा को जब विष्णु का मातहत बनना पड़ा तब वे विष्णु की नाभि से निकले कमल पर बिठाये गए। महाभारत में ऐसी कथाएं भी आती हैं जिनमें कहा गया है कि शिव ने ब्रह्मा को बनाया, जो यह बताता है कि एक समय शिव के उपासकों ने भी शिव को सबसे बड़ा स्थान देने की चेष्टा की थी। अब विष्णु और शिव का रूप देखना चाहिए।

पहली बात यह है कि शिव और विष्णु अकेले-अकेले नहीं हैं, उनके परिवार हैं। परिवार माने खाली स्त्री से नही है। शिव के साथ नन्दी है। कात्तिकेय है, गणेश है, चूहा है, मोर है, नाग है, गंगा है, चन्द्रमा है। वे श्मशान में भी रहते हैं, कैलाश पर भी। भैरव भी हैं, शिव भी। गोया शिव के रूपों का अन्त ही नहीं। उनकी स्त्री अपने सबसे अच्छे रूप में पार्वती है। वही पार्वती दुर्गा है, चामुण्डा है, भैरवी है, नारसिंही है, और पिशाचनी है। और भी बहुत से उसके भयानक रूप हैं। इसके अलावा सारे भूत-प्रेत शिव के साथी हैं। पार्वती के साथ शिव है। गोया कई देवीदेवता हैं और फिर खास बात यह है कि शिव

और पार्वती का जोड़ा ही अनेक देवी-देवताओं का रूप धारण करता है। वे अष्टमूर्त्ति भी हैं, त्रिशूलधारी हैं, त्रिनेत्र हैं, और नटराज भी हैं। वे खाली लिंग हैं। पार्वती केवल योनि है।

साफ ही दीखता है कि सिंह, नन्दी, नाग, गंगा, चन्द्रमा, हाथी (गणेश) चूहा, मोर आदि कई टॉटेम हैं। कई तो ऐसे हैं जो आपस में शत्रु हैं, जैसे हाथी और सिंह, चूहा और नाग। मोर और नाग, सिंह और वृषभ यानी नन्दी। फिर भी सब एक जगह इकट्ठे हैं। यह जाहिर करता है कि जब कई टॉटेम जातियाँ आपस में घुलमिल गईं तब एक परिवार बन गया और सब देवी-देवताओं का आपसी बैर हट गया। सब जातियों की बुद्धि एक ही धरातल पर नहीं थी। कुछ लिंग योनि की पूजा करती थी, कुछ की पूजा नीचे दर्जे की थी, कुछ की बड़ी दार्शनिक थी। उन सबके मिलने से शिव पार्वती का परिवार बना। सारी जातियों के अलग-अलग विश्वास आकर आपस में घुलमिल गए। इसके अलावा कई जातियों में कई तरह के पुरुष देवता माने जाते थे, जैसे भैरव,, अघोर, कपालि, और इसी प्रकार अनेकों थे। बुद्धि के बढ़ने से मनुष्य ने यही माना कि पुरुष रूप के यह बहुत से देवता एक ही देवता के कई रूप हैं। इस प्रकार शिव के ही अनेकों रूप माने गए। यही पार्वती के साथ हुआ। कई जातियों में कई तरह की देवियां मानी जाती थीं, जैसे वाराही, चामुण्डा, श्मशानवासिनी इत्यादि। ज्ञान के विकास से मनुष्य ने इसका अनुभव किया कि सारी देवियाँ एक ही देवी के अनेक रूप हैं। यों पार्वती के अनेकों रूप हुए। बाद में जब शिव पार्वती के इतने बड़े परिवार की सृष्टि हो गई तब लोगों ने यह माना कि असल में स्त्री और पुरुष दोनों एक ही के दो रूप हैं, यों शिव के अर्द्धनारीश्वर रूप को माना गया।

इसी तरह विष्णु के परिवार में नाग है, गरुड़ है, भू देवी है, श्री देवी है, और लक्ष्मी है। लक्ष्मी के साथ उल्लू है, हाथी है। विष्णु के भी गण हैं, जिन्हें विष्वक्सेन कहते हैं। अनेक देवता विष्णु के ही रूप माने गए। मछली देवता, वाराह देवता, कूर्म देवता, हंस देवता, सिंह देवता, आदि की कथाएं आ जुड़ीं और वे सब विष्णु के ही अवतार माने गए। इस प्रकार शत्रु टॉटेम नागों और गरुड़ों को मिलाने वाले विष्णु बने। हम बता चुके हैं कि विष्णु का आदि रूप

हयग्रीव माना गया है। कहा जाता है कि विष्णु का असली निवास स्थान श्वेत द्वीप था जहाँ वर्फ थी और सदैव ही सूर्य्य का प्रकाश रहता था। वहाँ विष्णु के भक्त बैठे रहते थे, जिनके ६४ डाढ़ें होती थीं और छाते का सा उनका माथा हुआ करता था। विष्णु का तेज इतना तीव्र था कि कोई उन्हें देख ही नहीं सकता था। उनको देखने के लिये बड़ी भक्ति, बड़े ज्ञान और बड़ी शक्ति की जरूरत थी। वे बड़ा भारी दण्ड देते थे। उनसे बड़ा डर लगता था। बाद में हम जब उन्हें अपने पशु रूपों-मत्स्य, वराह, नृसिंह, आदि के बाद मनुष्य रूपों में देखते हैं, तब भी पहले वे परशुराम जैसे क्रोधी ही दिखाई देते हैं। कालांतर में हम विष्णु को कृष्ण रूप में गरीब ग्वालों के साथ खेलते देखते हैं। बाद में ब्रह्मा भी विष्णु के नाभिकमल से निकले दिखाई पड़ते हैं।

मोटे तौर पर शिव और विष्णु के विशाल परिवार बन जाते हैं। हम कह सकते हैं कि महाभारत की लड़ाई के बाद जब आर्य्य और अनार्य्य जातियाँ आपस में घुलमिल गईं। तब सारे बिखरे हुए देवता धीरे-धीरे विष्णु और शिव के परिवारों में बंट गए। वे सब इनके विचित्र और विभिन्न रूप बन कर रह गए। ब्रह्मा का प्रभाव कम हो गया।

यह घटना कब हुई होगी? इसके बारे मे यही कहा जासकता है कि यह घटना महात्मा बुद्ध के पहले की हैं, यानी आज से ढाई हजार वर्ष पहले की हैं। विष्णु और शिव के बारे मे जो वर्णन महाभारत में आते हैं वे सब उसी युग के माने जाते हैं। यह आपसी मेल-जोल उपनिषदों के बाद तेजी से शुरू हुआ था, क्योंकि उपनिषदों में ब्रह्म का वर्णन अधिक है। विष्णु और शिव की प्रधानता बाद के ग्रन्थों में पाई जाती है, जो कि बुद्ध के समय तक तैयार हो चुके थे। इनके परिवारों में नए-नए देवी-देवता ईसा की दसवीं सदी तक भी जुड़ते रहे। जैसे बुद्ध और ऋषभदेव जैन तीर्थङ्कर को विष्णु का अवतार माना गया और गणेश जो पहले अलग देवता था, वह शिव का पुत्र बन गया।

इन देवताओं के बढ़ने की वजह यही थी कि इनके उत्थान ने सब मनुष्यों को परमात्मा की भक्ति का अधिकार दिया और जाति-पाँति के बन्धनों को ढीला किया। सब देवी-देवताओं का आखिर में एक ही देवीदेवता के अनेक रूपों में मान लिया जाना, समाज में बढ़ती हुई सहिष्णुता, सहनशीलता और बुद्धि के

विकास का फल था।

लेकिन भारत की विचित्रता यह है कि यहाँ किसी ने भी किसी के देवी-देवता का नाश नहीं किया। सब अपनी-अपनी जगह रहे, भले ही उनका पहला सम्मान और दर्जा घट गया था। समाज में इस दर्जे के घटने से कोई अपमान की भावना नहीं फैली, क्योंकि भले ही किसी देवी-देवता का अपना दर्जा घट गया था, लेकिन वैसे वह देवी-देवता अब किसी बहुत बड़े व्यापक देवी-देवता का ही रूप बन गया था, इस तरह उसका तो दर्जा और ऊंचा उठ गया। पहले भैरव कुत्तों से घिरा देवता था, अब वह स्वयं शिव था और शिव तो महादेव था।

यों हमारे समाज की पहली एकता स्थापित हुई। इस आपस के घुलमिल जाने को ही जातियों की अन्तर्भुक्ति कहा जाता है।

हमारे देश में अनेक दार्शनिक विचारधाराएं हैं। उन्होंने उपासना के साथ टक्कर नहीं ली है। उन्होंने परमात्मा के बारे में बहस की है और शैव उस परमात्मा की जगह शिव को रख लेता है और वैष्णव वहाँ विष्णु को रख लेता है

जब शैवों और वैष्णवों की टक्कर होने लगी तो दोनों को एक ही मान लिया गया। इस तरह इस देश में विविधता से हम लोग धीरे-धीरे एकता की तरफ बढ़े हैं।

क्या यह एक महत्त्वपूर्ण बात नहीं है कि भारतीय मध्यकाल के सारे जन आन्दोलन वैष्णव और शैव सन्तों द्वारा ही अधिकतर चलाये गये और धर्म के लिये ही सारे आन्दोलन उठते हुए दिखाई देते हैं। लेकिन अगर ग़ौर से देखा जाये तो साफ़ हो जाता है कि धर्म के नाम पर उठा हुआ हर एक आन्दोलन इन सन्तों के हाथ में समाज सुधार का आन्दोलन बन जाया करता था। जो भी संत जनता में जो सुधार करना चाहता था, वह अपने भगवान् में वही गुण बताता था, जैसे गुरु गोरखनाथ ने वाममार्ग की कुरीतियों को हटाया तो शिव के योगी रूप पर ज़ोर दिया, दक्षिण के आलवार सन्तों ने जाति प्रथा हटाई तो कहा कि भगवान् प्रेम के भूखे हैं, चैतन्य ने हिन्दू मुस्लिम बन्धन हटाये तो कहा कि भगवान् तो बराबरी चाहते हैं, नामदेव ने नीच जातियों को उठाया तो कहा कि भगवान् तो दुखियों को प्यार करते हैं।

भारत की जनता इसी भाषा की परम्परा में पली है और तभी महात्मा गांधी ने जब अछूतोद्धार किया तो कहा कि भगवान् के सामने सब एक हैं, जो दुखी हैं वे ही हरिजन हैं। उन्होंने जो कहा, वह लोगों की समझ में आया और धीरे-धीरे हम देख ही रहे हैं कि जाति-पाँति के बन्धन ढीले पड़ते जा रहे हैं।

तो कहने का मतलब खास तौर पर यह है कि भारत में भगवान केवल दर्शन की वस्तु बन कर नहीं रहे हैं, उनका जनता के सुख-दुख से सीधा सम्बन्ध रहा है। यही कारण है कि हमारे देवता हमारे विकास के साथ विकसित होते रहे हैं। वे कभी भी विदेशों के देवताओं की तरह केवल डराने वाली चीज़ें बन कर नहीं रहे हैं। अगर भारत के लोगों को कहीं कोई चीज़ अच्छी लगी है तो उसे भी उन्होंने किसी न किसी रूप में अपने ही देवता के साथ जोड़ लिया है। सन्त रामानुजाचार्य बड़े भक्त सुधारक थे। उनके समय मे एक मुसलमान शाह-ज़ादी भगवान के दर्शन करने आ रही थी और रास्ते में ही मर गई। तब रामा-नुज ने कहा कि भक्त अगर नहीं पहुँचा तो अब भगवान को ही जाना पड़ेगा। सारे विरोध के बावजूद रामानुजाचार्य ने भगवान श्री रंगनाथ की मूर्ति को उठाकर मुसलमान शाहज़ादी के पास पहुँचा दिया। बाद में इसका नाटक भी खेला जाने लगा। उस नाटक को तुलुकनाच्चार कहते हैं जिसका अर्थ है—तुर्क-माता। उसमें भगवान की पत्नी उन्हें उलाहना देती है कि तू तो उस पराई स्त्री को देखने चला गया।

यदि हम अपने देवताओं के विकास से समाज के विकास की मंज़िलें निकाल कर अलग रख लें तो हम कुछ भी नहीं समझ सकते। दोनों को साथ रखकर देखने पर तो सारा इतिहास आँखों के सामने जीवित होता चला जाता है। इस विषय पर तो पोथे पर पोथे रंगे जा सकते हैं। इसका क्या कहीं अन्त है। यह तो भारत की महान और अपार संस्कृति की कहानी है। किस ज़माने में किस देवता को क्या पोशाक पहनाई जाती थी, यही खोज का बहुत बड़ा विषय है। शक और कुषाण सूर्य्य देवता की मूर्ति को अपने मन्दिरों में ऊँची टोपी, अंगरखा और ऊँचे जूते पहनाते थे। यूनानियों से लेकर मुहम्मद ग़ोरी जैसे विदेशी शासकों ने भारत में आकर लक्ष्मीदेवी की आकृति को अपने सिक्कों पर खुदवाया। ग़ोरी ने भी खुदवाया, कैसी-कैसी नयी बातें अभी अनजानी ही पड़ी हैं।

बहुत से देवता जिनकी बाद में जरूरत नहीं रहीं, वे जनता में से खो गये जैसे वैदिक देवता—अर्यमा, भग, इत्यादि को बहुत कम लोग जानते हैं। बौद्धों के बहुत से देवी देवता जैसे उग्रतारा, वज्रतारा इत्यादि में से कुछ भारत के बाहर शायद जीवित हैं, भारत में तो नहीं। जैनों के विद्याधर देवता भी जनता में ज्ञात नहीं हैं। बहुत से देवी-देवता दर्जा गिर जाने से पूजा के योग्य नहीं रहे। जिस इन्द्र की मारे वेदों में स्तुतियाँ हैं, और जिसके इतने यज्ञ होते थे, उसे आज कभी घोर अकाल में भले ही याद किया जाये, वैसे तो कोई पूछता नहीं। वरुण जो एक समय आर्य्यों का बहुत बड़ा देवता था, उसकी कहीं पूजा नहीं होती। सच तो यों है कि भारत में वेदों को पूज्य माना जरूर जाता है, लेकिन सदियों से भारत में वैदिक देवताओं की पूजा नहीं होती। और तो और भगवान कृष्ण ने ही इन्द्र-पूजा रोककर गोवर्धन पूजा चलाई थी। भारत में तो सारे अनार्य्य देवताओं कीं पूजा होती है और अनार्य्य और आर्य्य इतने घुलमिल गये हैं कि कुछ पता नहीं चलता। आर्य्यों के वंशज ब्राह्मण ही तो इन सब देवताओं के पुजारी हैं। इस देश में अब कौन आर्य्य है, कौन अनार्य्य है ? हम तो एक महान अन्तर्भुक्ति के परिणाम हैं, भारतीय हैं और मनुष्य हैं, और यही हमारे देवताओं का विकास भी हमें बताता है।

अनेक देवता फिर भी जीवित हैं। इसमें से कुछ तो इसलिये कि वे परम्परा में मिल गये हैं जैसे, राम के साथ हनुमान अमर हो गये हैं और कुछ इसलिये कि देश की जरूरतों ने उन्हें याद रखा है जैसे, इन्द्र देवता। इन्द्र तो बादलों का राजा है, पानी बरसाता है। हमारा देश तो खेतिहर है। यहाँ तो पानी चाहिये ही। इसलिये इन्द्र का दर्जा कितना भी क्यों न घट जाये, फिर भी बादलों का चौकीदार तो वह है ही।

संक्षेप में, हमारे देश के देवी-देवताओं का जीवन बहुत ही विचित्र है, और उसमें जितना ही आदमी गहराई में उतरता है, उतनी ही उसे नयी-नयी बातें दिखलाई देती हैं। विदेशियों ने बहुत बार आकर भारत की मूर्त्तियों को नष्ट किया है। मूर्त्तियाँ कुशल कलाकारों की यादगार थीं। उनको कोई नाश करे तो क्या वह अच्छा काम है ? छोटे-मोटे झगड़ों की बात अलग है, वैसे भारत ने ऐसा

सांस्कृतिक विनाश नहीं किया और तभी हमारे सामने देवी देवताओं के ऐसे विशाल परिवार जीवित हैं ।

— ७ —

यह एक बहुत बड़ा सत्य है कि हमारे देश मे मूर्त्तियो के बारे में अन्ध-विश्वास है । भरतपुर जिले के वैर गाँव में मैंने ६ ठी सदी की एक मूर्त्ति को टूटा भैरों के नाम से पुजते देखा है । यहीं बारहवीं सदी की एक खंडित और धरती में अधगढ़ी विष्णु की मूर्त्ति को चामड़ मैया कहकर पूजा जाता है । प्रता-पेश्वर चैत्य में गणेश की एक चौथी या ५ वीं सदी की एक घिसी-सी मूरत पड़ी है । सारे भारत मे न जाने किस नाम से कौन सी साँस्कृतिक धरोहर इसी तरह पलती जा रही है । लोगों में एक श्रद्धा है कि जैसे इन्सान की टाँकी और हथौड़े से गढ़ा पत्थर तो भगवान की तरह पूजा ही जाना चाहिये । ऊँचे स्तर पर हमारा भगवान इन मूर्त्तियों मे बंधा नहीं हैं । हमारे देवी-देवता मूर्तियों में रहते हैं परन्तु उनमें ही उनका अन्त नही माना जाता । उनको जनता के मन में माना जाता है । अन्ध-विश्वास भी पलता है और देखा जाये तो दार्शनिक बात भी साथ-साथ चलती है ।

रोम, यूनान, इराक़, ईरान और बाहर के मुल्कों में देवी देवताओं को मूरत के भीतर ही माना जाता था । इसलिये जब किसी बाहरी जाति ने आकर मूर्तियों को तोड़ दिया तो देवी देवता भी मर गये । वे देवी-देवता भी बंधे हुए थे, हमारे देवी-देवताओं की तरह उनमें नयी-नयी बातों को अपने मे जोड़ लेने की ताक़त नहीं थी । दूसरे, हमारे देवी-देवता हमारी मूर्तिकला, कविता, शिल्प, संगीत और चित्रकला के भी आधार रहे हैं । उनका लोक-जीवन में कथाओं मे सुख दुख के साथी के रूप में वर्णन है । एक-एक के विकास में अनेक-अनेक जीवन दर्शनों और विचारों का मिलन है । न जाने कितनी जातियों की संस्कृतियों का मिलन है । और सबसे बड़ी बात यह है कि हमारे देवी-देवता मूरत में बंधे नही रहे

हैं। बुद्ध भगवान के ही पहले भगवान को तो निराकार माना गया था, बाकी जनता का मन रमाने को मूर्त्तिपूजा चालू मानी गई थी। इसीलिये बौद्धों और जैनों ने भी मूर्त्तिपूजा को स्वीकार किया लेकिन बौद्धों का देवता जनता के जीवन का साथी नहीं बना, उसकी मूरत टूटते ही वह खो गया। जैनों और अन्यों के साथ ऐसा नहीं हुआ। यहाँ मूर्त्तिपूजा को पाठशाला की सबसे छोटी कक्षा माना गया है। मूर्त्ति तो मनुष्य बनाता है, माने से पत्थर भगवान है, न माने से भगवान भी पत्थर है—यही यहाँ की विचारधारा रही है। सारी दुनिया में परमात्मा है। उसमें मन रमाने के लिये तुम एक पत्थर का टुकड़ा धर लेते हो, तो वही भगवान है। कोई उसे फेंककर कहता है कि भगवान यह पत्थर नहीं, सारा संसार है, तो भारत की सहनशीलता इस पर हँसती है, क्योंकि वह पत्थर और संसार को एक ही मानती है। संसार में मन रमता है तो रमा लो, नहीं रमता तो पत्थर में रमा लो। पत्थर को आदमी बनाकर तुम कहानियाँ गढ़कर अपने भीतर महानता का अनुभव करते हो, तो भी भारतीय दर्शन को कोई नुकसान नहीं, क्योंकि सारे देवी-देवता अपने आप में पूरे नहीं हैं, वे तो एक ही महान परमात्मा के अनेक रूप हैं। यही कारण है कि जब किसी ने भी बहुत अक्लमन्द बनकर यहाँ की मूर्त्तियों को तोड़ा है, तो भारतियों ने उसे केवल संस्कृति को बरबाद करने वाला माना है, उन्होंने यह कभी नहीं माना कि देवी-देवता मर गये। देवी-देवता को तो वह संसार में व्यापा हुआ मानता है, वह जानता है पत्थर की मूरत आदमी की बनाई है। हर तरह के आदमी होते हैं। कोई-कोई ही एकदम ऊंचे दर्जे में पढ़ सकता है, वर्ना ज्यादातर तो छोटे दर्जे से ही पढ़ाई शुरू करते हैं। असल में भारतीय देवी-देवताओं के बचे रहने का कारण यही है। वे जब भी बदले हैं, तो अपने ही समाज की अन्दरूनी जरूरतों के कारण, न कि किसी बाहरी बोझे से झुकने के कारण। मध्यकाल में जब विदेशियों ने यहाँ की संस्कृति को बहुत बरबाद किया तब भारतियों ने अपने देवता राम के धनुष की टङ्कार सुननी शुरू की, और तभी उन्होंने सांस्कृतिक जीवन के प्रति प्रेम को जगाये रखने को, सारी मुसीबतों के बावजूद, कृष्ण की प्रेम भरी बाँसुरी की तान को सुना। आर्य्यों से लेकर अंग्रेजों तक के भीषण हमलों को झेलकर भी वे अपने खुले आस्मान के नीचे धरे पत्थर के टुकड़े को महादेव कहते

रहे और इस तरह ही उनके देवी-देवता आज तक सदियों के कटाव और मार को झेल कर बने हुए हैं। मूर्तिपूजा एक बुनियादी तालीम है, उससे आगे वह कुछ भी नहीं।

इस तरह हमने देखा कि भारत में जीवन दर्शन, धर्म, समाज आदि आपस में घुल-मिलकर जीवित रहे हैं। उन्हें एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, इसी को ध्यान में रखकर महात्मा गाँधी ने नैतिकता और धर्म की बुनियादों पर रोशनी डाली थी और इसी परम्परा में विनोबाभावे भी अपना रास्ता बनाने की कोशिश कर रहे हैं।

— ८ —

सारी दुनिया में इस समय भारत के बाहर प्रायः दो दल हैं—एक वे जो नास्तिक हैं, दूसरे वे हैं जो किसी पैग़म्बर की शिक्षा मानने वाले आस्तिक हैं। वे किसी सम्प्रदाय विशेष को मानते हैं। वे अपने स्थिर और बंधे हुए विचार रखते हैं। भारत में मूर्ति-पूजा से लेकर ब्रह्मवाद तक की बात है और यहाँ मूर्तिपूजा को साधना के क्षेत्र में 'अ आ इ ई' सीखने के मानिन्द माना जाता है। ज्यों-ज्यों भारतीय चिन्तन बढ़ता जाता है हम नास्तिक और आस्तिक के चक्कर को भी छोटा मानते हैं। सबसे बड़ी चीज यहाँ मनुष्य का कल्याणमाना गया है। मानवीय जीवन की सबसे अच्छी-अच्छी बातों को कोई भी अपनाकर अमल में लाकर दिखादे, उसी को यहाँ सबसे बड़ा माना जाता है। यहाँ आज भी जियो और जीने दो, माना जाता है। यहाँ उस सब संकोच-वृत्ति और तंगदिली को बुरा माना जाता है, जो दिमाग़ को बन्द करने की कोशिश करती है। यहाँ अब भी सत्य को किसी सीमा में घिरा हुआ नहीं माना जाता। यहाँ अब भी मौत के ऊपर ज़िन्दगी की शान को आदमी अपना ध्येय चुनता है।

हमारा धर्म धीरे-धीरे अपने आप बदलता जा रहा है। वह धीरे बदलता है, या देर में, इसे तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु हमारे पन हमारे चारों ओर की

परिस्थितियों के कारण बदलते जा रहे हैं, और हम इस सारे झमेले में से बुनियादी अच्छाइयों को लेकर जी जान से फिर उबर आने की कोशिश कर रहे हैं। हमारी परम्परा की सहनशीलता को आगे बढ़ाते हुए महात्मा गाँधी ने हमारे देवताओं के परिवार में रहीम और अल्लाह को भी मिला लेना चाहा था। वह सुपना अभी पूरा नहीं हुआ, लेकिन उस अच्छे आदमी के लहू ने बहुत से अन्धविश्वास और घृणा को धोया है। हिन्दुस्तान का लोहू इसी तरह पापों को धोने के लिये बहता आया है। वह इसी तरह बहता जायेगा क्योंकि हमारी बुनियाद में एक ही बात है कि जियो और जीने दो।

हमारी मानवता की शिक्षा में देवी-देवता-मन्दिर बुनियादी तालीम का कोर्स हैं। समय आ रहा है कि ऊँचे दर्जे की पढ़ाई के अधिकारी अधिक से अधिक लोग हो सकेंगे, उससे जनता का अन्धविश्वास टूट जाएगा, और यह मन्दिर, जिनमें बैठे हमारे विश्वास ने हमें सदियों के तूफानों में बचाया है, हमारी कला के केन्द्र बन जायें, और हमारी सदियों की यात्रा में हमारी मानवता के श्रेष्ठ गुणों के प्रतीक बनकर यह देवी-देवता भी हमें अपने अतीत की याद दिलाते रहेंगे। इनके नाम पर होने-वाला शोषण जब इनसे दूर कर दिया जायेगा, जब इनमें भेंट बनकर चढ़ने वाला लाखों करोड़ों रुपया, फिर जनता की शिक्षा बढ़ाने को नये-नये विद्या-केन्द्र खोलने की मदद करेगा, जैसे अमृतसर के स्वर्ण मन्दिर में खर्चे से बचने वाली अपार आय से वे लोग स्कूल, कॉलेज चलाते हैं, रुपये को बन्द रखकर उसको नष्ट नहीं करते तब यह स्थान एक बार फिर हमारे इतिहास और कला को वही सहायता देंगे, हमारी सभ्यता और संस्कृति को फिर सुन्दर बनायेंगे, हमारी सहिष्णुता को फिर जगायेंगे, जैसे अपने-अपने युग के बन्धनों में यह किसी न किसी रूप में अब तक करते रहे हैं, जिस दिन हमारे तीर्थों से भारतीय जनता वैज्ञानिक लाभ उठायेगी, उसी दिन हमारे तीर्थ-देवता भी प्रसन्न होंगे, क्योंकि तभी तो हम उनकी असली शक्ति और करुणा को देख सकेंगे।

ह्रासयुगीन साहित्य : महाभारत

— १ —

नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम् ।
देवीं सरस्वतीं चैव ततो जयमुदीरयेत् ॥

वाल्मीकि रामायण से भी पुराने ग्रन्थ महाभारत का यह पहला श्लोक है। प्राय: लोग वर्तमान वाल्मीकि रामायण को महाभारत से पुराना समझते हैं, जिनमें विदेशी विद्वानों में विण्टरनित्स का भी उल्लेख किया जा सकता है, किंतु हमें निम्नलिखित बातों पर ध्यान देना आवश्यक है :

(१) महाभारत कविता के रूप में लिखा जाकर भी काव्य नहीं, इतिहास माना गया है, रामायण को ही आदिकाव्य कहा गया है। रामायण से पहले वेद आदि की कविता मौजूद थी, किन्तु उसे भी काव्य नहीं कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि काव्य उसे माना गया है जिसमें कुछ विशेषताएं हों, हर पद्यात्मक रचना को काव्य नहीं कहा गया। इस दृष्टि से वीर नायक राम की कथा को काव्य कहा गया है, क्योंकि वह रस-प्रधान है। महाभारत की कविता बहुत अच्छी होते हुए भी उसमें इधर-उधर की बहुत-सी नीरस बातें भी हैं, जो उसे शुद्ध काव्य की कोटि में नहीं आने देतीं। नर काव्य की प्रधानता से ही आदि काव्य की संज्ञा प्राचीन काल के विद्वानों ने रामायण को ही दी।

(२) इस पर काफी विचार किया जा चुका है और प्राय: सभी मानते हैं कि वाल्मीकि रामायण का वर्तमान स्वरूप ईसा पूर्व दूसरी सदी में सम्पादित करके तैयार किया गया था। उस समय ब्राह्मण जातीय शुंग सम्राटों का शासन था। उस समय के समाज में जो आदर्श माने जाते थे, वे ही रामायण में प्रभुत्व को प्राप्त कर गये हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि रामायण त्रेता युग की रचना है जबकि मनुष्यों के जीवन का रूप द्वापर की अपेक्षा कहीं श्रेष्ठ था। परन्तु यह तथ्यहीन बात है। रामायण के जीवन का नैतिक स्तर जितना ऊंचा है, उससे

ऊँचा यदि और भी पुराने यानी सत्ययुग के वेद, उपनिषद् और ब्राह्मण ग्रन्थों में होता तो यह बात मानी जाती। नैतिकता के स्तर से हमें वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, महाभारत और रामायण में, हर पहले ग्रन्थ की तुलना में हर बाद के ग्रन्थ में सुसंस्कृत मनुष्य मिलता है।

(३) महाभारत कब लिखा गया ? हम उस के बारे में यही कह सकते हैं कि जिस समय उपनिषदों की रचना हो रही थी, उस समय लौकिक संस्कृत यानी महाभारत की भाषा जनभाषा थी। यह समय ईसा से सात या आठ सौ साल तो कम से कम पुराना होना चाहिए। यह महाभारत जनता में गाकर सुनाया जाता था और इसलिए इसे समझा भी जाता ही होगा। शुंगकाल में सम्पादित होकर इतना बड़ा कलेवर धारण करने वाली रामायण की मूल कथा भी गाकर सुनायी जाती थी और महाभारत भी। किसी समय महाभारत छोटी-सी रचना थी। बाद में जब उपनिषद्काल में ब्रह्म यानी भगवान् को एक माना गया और भारत में आर्य, नाग, असुर, राक्षस, दानव इत्यादि जातियाँ आपस में घुलने मिलने लगीं, तब हर जाति के पेशों के लोग समाज में पेशों के हिसाब से बंटने लगे। पुरोहित, योद्धा, व्यापारी और कमकर तथा नीच काम करने वाले दास— यही प्रायः हर जाति में वर्गों के भेद थे। आर्य, नाग, असुर, राक्षस, दानव इत्यादि हर जाति के पुरोहित आपस में घुल-मिल गये और वे ब्राह्मण कहलाने लगे। ऐसे ही हर जाति के योद्धा क्षत्रिय वर्ण, हर जाति के व्यापारी वैश्य वर्ण, और हर जाति के कमकर शूद्र वर्ण तथा हर जाति के नीच काम करने वाले दास अन्त्यज कहलाने लगे। समाज का नया ढाँचा तैयार हो गया। महाभारत इसी लम्बे दौर की रचना है। आर्यों के अलावा जब हर जाति आपस में घुली-मिली तो उसके अपने देवता, विश्वास भी घुले-मिले, तरह-तरह के देवी-देवताओं की कथाएं मिल गईं और महाभारत बढ़ने लगा। हमें महाभारत के प्रणयन में इतने प्रभाव मिलते हैं।

(अ) मूलरूप में महाभारत एक युद्धकाव्य था जिसमें धर्म के प्रश्न पर बड़ा चिन्तन था और उसके मुख्य नायक का नाम युधिष्ठिर था। वही द्वैपायन व्यास-कृत 'जय' काव्य था। परवर्ती वैदिक संस्कृत भाषा में छान्दोग्योपनिषद् नामक ग्रन्थ मिलता है। उसमें देवकी-पुत्र कृष्ण को प्राचीन काल का आदमी कहा गया

है। अर्थात् कृष्ण जब हुये थे तब वैदिक भाषा चलती थी। उस समय यदि द्वैपायन व्यास ने 'जय' काव्य लिखा भी होगा तो वह परवर्त्ती वैदिक काव्य की भाषा में लिखा होगा, क्योंकि इसके बाद की भाषा तो वे लिख ही नहीं सकते थे। जय काव्य गाया जाता रहा होगा और गायकों के मुंह में युग भाषा बदलती रहने के साथ वह भी बदलता चला गया होगा, जैसे गोरखनाथ की अपभ्रंश भाषा की कविता कालान्तरमें उनके शिष्योंके मुखों में दुहरायी जाकर अब सधुक्कडी भाषा में मिलती है, जो काफी परवर्ती भाषा है। इसलिए महाभारत का कोई रूप व्यास का रचा नहीं है, जिसका सबसे पुराना हिस्सा भी द्वैपायन व्यास की पुरानी कविता का, गाये जाते रहने के कारण, रूप बदला है। जो भी हो, इसका प्राचीनतम भाग वही है जिसमें हमें कौरव-पाण्डवों के बारे में निष्पक्ष कवि-दृष्टिकोण मिलता है। यह चारण कविता थी।

(आ) ईसा के लगभग ६ या ५ सौ वर्ष पहले या कुछ पहले भी हो सकता है, इसमें वैष्णवों ने अपनी कलम का असर दिखाया। उन्होंने भागवत सम्प्रदाय पाँचरात्र को जोर देकर स्थापित किया और कृष्ण को भगवान बनाया। इन लोगों ने काफी चमत्कार भी मूल ग्रन्थ में जोड़ दिये।

(इ) समसामायिक या कुछ वाद में इस ग्रन्थ में शैव सम्प्रदायों ने अपनी कलम चलायी और इसमें शिव को जोड़ दिया।

(ई) इसके बाद तो इसमें वहुत लोग घुसे। देवी के उपासकों ने अपना हिस्सा जोड़ा। अन्त में गणेश को भी जोड़ दिया गया।

(४) इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यह ग्रन्थराज कई शताब्दियों में कई लोगों द्वारा लिखा गया। 'व्यास' एक गद्दी होती थी और उस पर बैठकर कथा सुनाने वाला व्यास कहलाता था, अतः हर लेखक व्यास ही था। महाभारत में कथा तो समाप्त होती है जब पाण्डव लोग परीक्षित को राज्य देकर चले जाते हैं। परन्तु इसे पीछे डालकर ज्यादा महत्व से प्रारम्भ किया गया है जनमेजय का नागों से युद्ध। इसमें जब नाग जाति का आर्यो से समझौता हो जाता है तब पुरानी कहानियाँ उघड़ने लगती हैं और कथा प्रवाह प्रारम्भ होता है। इस प्रकार महाभारत केवल आर्य परम्परा का वर्णन नहीं है, उसमें, नाग असुर, यक्ष, गन्धर्व, किन्नर, राक्षस, दानव आदि विभिन्न आर्येतर यानी जो आर्य नहीं थीं,

ऐसी जातियों की भी परम्पराएं अन्तर्युक्त, बानी घुल-मिल गयी है।

(५) महाभारत स्वयं कहता है कि : कुलपति शौनक के यज्ञ में पुराण सुनानेवाले रोमहर्षण के बेटे उग्रश्रवा ने इस ग्रन्थ को सुनाया था। तब इसमें एक रूप संक्षिप्त था, एक विस्तार वाला था। कुछ लोग इसका आरम्भ आस्तीक-पर्व (यानी नाग-आर्य युद्ध) से मानते थे, कुछ लोग उपरिचर राजा की कथा से। बाद में गणेश ने इसे लिखा यानी गणेश को महाभारत में जोड़ दिया गया। इस प्रकार इसमें १८ पर्व बन गये।

हम यहाँ यह देखने का प्रयत्न करते हैं कि महाभारत में मुख्य भाग कौनसा रहा होगा और बाद में कौन-सा भाग कब और कैसे जुड़ गया।

आदिपर्वः पहला पर्व है। इसमें अनेक पर्व हैं।

पौष्यपर्वः यह बाद में जुड़ा है क्योंकि इसमें जनमेजय की कथा है।

पौलोमः यह बाद में जुडा है, क्योंकि इसमें जनमेजय के गुणों से युद्ध का कारण दिया गया है।

आस्तीक : यह बाद में जुड़ा है, क्योंकि इसमें भी नागों और आर्यों का संघर्ष वर्णित है।

अंशावतरण : यह स्पष्ट ही परवर्त्ती है क्योंकि इसमें महाभारत के प्रत्येक पात्र को किसी का अंशावतरण बनाया गया है। उपरिचर कथा का भाग भी परवर्त्ती प्रतीत होता है, क्योंकि वह स्वयं महाभारत के लेखक के जन्म का भी वर्णन करती है। कच-देवयानीकी कथा, ययाति, शकुन्तला दुष्यन्त आदि की कथाएं भी बाद में जुड़ी हैं क्योंकि उनका मूल कथा से सीधा सम्बन्ध नहीं है।

सम्भवपर्व, जतुगृह, हिडिम्बवध, वकवध, चैत्ररथ, द्रौपदी स्वयम्बर, वैवाहिक, विदुरागमन, राज्यलाभ, अर्जुनवनगमन, सुभद्राहरण, यौतुकाहरण, खाण्डवदाह, और मयदर्शन पुराने अंश हैं। इनमें भी जो कृष्ण का अलौकिक रूप है, वह परवर्त्ती है। अणीमाण्डव्य, सुन्द-अपसुन्द, इत्यादि अनेक कथाएँ परवर्त्ती हैं।

सभापर्व-दूसरा पर्व है। इसमें प्राय: मूल कथा है। पाण्डव-सभा बनना, दरबार, राजसूयज्ञ, जरासन्ध-वध, पाण्डव-दिग्विजय, दुर्योधन की ईर्ष्या, कपट जुआ, जुए की जीत, वनगमन इत्यादि पुराना है।

वनपर्व—तीसरा पर्व है इसमें

वनगमन, विदुर का निकाला जाना, पाण्डवों से विदुर का मिलन, कर्णसहित कौरवों का आक्रमण, किर्मीरवध, यादव-पाँचाल मिलन, द्रौपदी-रुदन, द्वैतवनवास, काम्यकवन-गमन, अर्जुन का तप करने जाना, (बस यहीं तक) पाण्डव-यादव मिलन, पाण्डवों की गन्धमादन-यात्रा, भीम का यक्षों से युद्ध (बस युद्धमात्र) अर्जुन से मिलना, निवात कवच, पौलोम, कालकेयों से युद्ध (युद्धमात्र) द्रौपदी-सत्यभामा सम्वाद, द्वैतवनगमन, गन्धर्व-दुर्योधन युद्ध, अर्जुन का छुड़ा देना, जयद्रथ का द्रौपदीहरण, प्रसंग मूल ग्रन्थ में रहे होंगे जो बढ़ा-चढ़ाकर परवर्ती काल में प्रस्तुत किए गये हैं।

चौथा है—**विराटपर्व**। इसमें

पाण्डवों की विराट के यहाँ नौकरी, कीचक-वध, दुर्योधन की चालें, त्रिगर्त्तों का गौहरण आदि प्राय: सभी घटनाएँ पुरानी ही लगती हैं।

उद्योगपर्व पाचवाँ है। इसमें

श्रीकृष्ण से मदद माँगने अर्जुन और दुर्योधन का जाना इत्यादि, मद्रराज शल्य को फोड़ लेना, संजय का दूत बनना, सन्धिवार्ता, कर्ण को फोड़ने की कृष्ण की चेष्टा, पुराने अंश हैं।

छठा **भीष्मपर्व** है। इसमें

दस दिन का घोर युद्ध, कृष्ण-भीष्म युद्ध, भीष्म की मृत्यु पुराने प्रसङ्ग हैं।

सातवाँ **द्रोणपर्व** है। इसमें

द्रोण, भगदत्त, अभिमन्यु, जयद्रथ, सात्यकि, इत्यादि के प्रसङ्ग पुराने हैं।

आठवाँ **कर्णपर्व** है। इसमें

शल्य का कर्ण का सारथि बनना, पाण्ड्यवध, दुःशासन-वध पुराने भाग हैं।

नौवाँ **शल्यपर्व** है। इसमें

शल्ययुद्ध, शकुनि वध, दुर्योधन का छिपना, भीम का गदायुद्ध, बलराम का आगमन दुर्योधनका पतन पुराने अंश हैं।

सौप्तिकपर्व दसवाँ है। इसमें

कृपाचार्य, अश्वत्थामा की कथा, बदला लेना, अर्जुन का बदला लेना, पुराने अंश हैं।

नाटक और देवतावर्णन आदि क्षेपक है।

धौन्य का सूर्योपासना का उपदेश, सूर्य का प्रसाद, व्यास का दुर्योधन को रोकना, सुरभी की कथा, मैत्रेय कथा, सौमवध, व्यास का युधिष्ठिर को 'प्रतिस्मृति' विद्या देना; अर्जुन का शिव से युद्ध, इन्द्रलोक जाना, नल-दमयन्ती कथा, तीर्थ वर्णन मयासुर, अगस्त्य, वातापि, ऋष्यश्रृङ्ग, परशुराम, सहस्रबाहु, अर्जुन, सुकन्या, मांधाता, जन्तु राजकुमार, सोमक, उशीनर, अष्टावक्र, यवक्रीत, रैभ्य, भीम का नहुष मिलन, मार्कण्डेय, पृथु, गरुड़-सरस्वती, मत्स्य, इन्द्रद्युम्न, धुंधुमार, पतिव्रता, अंगिरा, ब्रीहिद्रोण, दुर्वासा, राम-सीता, सावित्री, कर्ण और इन्द्र का कुण्डल पाना, कर्ण का शक्ति पाना, आरणेय, धर्म और युधिष्ठिर, आदि प्रसंग परवर्त्ती हैं। चमत्कार, पुरानी कथाएं अन्तर्युक्त की गयी हैं।

परन्तु कथा प्रसङ्ग के भीतर अवश्य ही बहुत-सी तूल बाद की दी हुई है।

इन्द्र विजय कथा, दम्भोद्भव कथा, गालव-वृत्तान्त, विदुला प्रसङ्ग, श्रीकृष्ण का योगबल दिखाना, अम्बा का उपाख्यान परवर्त्ती है।

जम्बू खण्ड वर्णन, गीता का उपदेश, शिखण्डी और भीष्म की शरशैया इत्यादि क्षेपक हैं।

किन्तु युद्ध वर्णनों में क्षेपक आ पड़े हैं।

त्रिपुर-संहार बाद में जुड़ा है और अनिरंजना भी क्षेपक है।

कुमार उपाख्यान, तथा तीर्थवर्णन परवर्त्ती हैं।

अश्वत्थामा का महादेव की आराधना करना, ब्रह्माण प्रसङ्ग, व्यास का आगमन परवर्त्ती हैं।

स्त्रीपर्व ग्यारहवाँ है। इसमें

शोक, कर्ण-कुन्तीरहस्य का प्रगट होना पुराने अंश हैं।

शान्तिपर्व बारहवाँ है। इसमें

युधिष्ठिर का वैराग्य पुराना है।

तेरहवाँ **अनुशासनपर्व** है। इसमें

प्राय: सभी परवर्त्ती है। भीष्म का स्वर्गारोहण, दान, फल, ब्राह्मण-गौरव इत्यादि अनेक विषय हैं।

चौदहवां **अश्वमेधपर्व** है। इसमें

अश्वमेध के घोड़े का चलना, बभ्रुवाहन और चित्रांगदा प्रसंग, दिग्विजय

इत्यादि पुराने हैं परन्तु बहुत ही अतिरंजित हैं।
पन्द्रहवाँ **आश्रमवासिकपर्व** है। इसमें
धृतराष्ट्र का वनगमन, मृत्यु इत्यादि पुराने अंश हैं।
सोलहवाँ **मौसलपर्व** है। इसमें
ब्रह्मशाप पुराना है।
गृहयुद्ध पुराना है।
आभीर आक्रमण पुराना ही है।
सत्रहवाँ **महाप्रस्थानिकपर्व** है। इसमे
प्राय: सब ही परवर्त्ती है।
अठारहवाँ **स्वर्गारोहणपर्व** है। इसमे
प्राय: सब ही परवर्त्ती है।
भीष्म-प्रतिज्ञा का तोड़ना, कुन्ती का शाप क्षेपक है।
शेष सभी परवर्ती हैं।
संवर्त्त मरुत की कथा, युधिष्ठिर को त्वपाना मिलना, बालक को श्रीकृष्ण द्वारा पिलाया जाना, इत्यादि सब परवर्त्ती अंश हैं।
अद्भुत लीला और नारद दर्शन परवर्त्ती हैं।
ब्रह्मशाप का रूप परवर्त्ती है।
गाण्डीव-शक्ति का क्षय क्षेपक है।
सन्यास की सलाह भी परवर्त्ती है।

संक्षेप में यही कथा का रूप है; किन्तु कालान्तर में बहुत कुछ इसमें मिल-जुल गया है और अब सब ही महाभारत कहलाता है। यदि हम व्यास के लिखे मात्र को ढूंढकर निकालने की चेष्टा करें तो सफलता नहीं मिल सकती। हमारे सामने यही सम्भव है कि मूल महाभारत की वर्त्तमान काल में प्राप्त कथा को देखा जाये और यही समझा जाये कि यही 'अब' व्यास की लिखी रचना है।

महाभारत एक समुद्र की तरह है। इसमें धर्म, धर्मशास्त्र, भूगोल, इतिहास, पुराण इत्यादि सभी का समावेश है। इसकी मूल कथा तो महान् है ही, इसके अतिरिक्त इसमें अनेक महाकाव्य हैं, जैसे नल-दमयन्ती प्रसंग, दुष्यन्त-शकुन्तला प्रसंग इत्यादि। काव्य की दृष्टि से यह भी कम नहीं हैं। इनकी भी कविता बहुत

ही मर्मस्पर्श करने वाली है। जीवन की अनुभूतियों की गहराइयाँ इनमें बहुत मुखर हुई हैं। इसलिए उन्होंने अब तक इतना प्रभाव डाला है और आगे भी डालती जायेंगी।

महाभारत के लेखक का नाम कृष्ण द्वैपायन व्यास बताया जाता है। कृष्ण तो वे इसलिये थे कि काले थे। काले सम्भवत: वह इसलिये थे कि उनकी माँ निषाद जाति की मत्स्यगन्धा नामक स्त्री थी। उनके पिता आर्य पराशर थे, वे एक ऋषि थे। बाद में वह स्त्री राजा शान्तनु को व्याही थी और पटरानी बन गयी थी, इसलिये व्यास का भी कुरुकुल में गहरा सम्बन्ध हो गया था। उन्हीं के वीर्य से आगे चलकर उनके भाइयों की स्त्रियों में उनकी ही सन्तान चली थी। धृतराष्ट्र, पाण्डु और विदुर उन्हीं के पुत्र थे।

महाभारत में लिखा है कि—पूर्व समय में धर्मात्मा व्यास ने माता की आज्ञा और बुद्धिमान भीष्म पितामह के कहने से विचित्रवीर्य की स्त्रियों में अग्नि के समान तीन तेजस्वी पुत्र उत्पन्न किये। धृतराष्ट्र, पाण्डु और बिदुर, ये नाम रखकर व्यास फिर तप करने को आश्रम चले गये। प्रकृति के नियम के अनुसार तीनों पुत्र जब वृद्ध होकर कराल काल के गाल में चले गये तब महर्षि वेदव्यास ने यह महाभारत ग्रन्थ भारतवर्ष में प्रकाशित किया। उसके बाद राजा जनमेजय ने सर्पयज्ञ की दीक्षा ली। उसमें तपोवन में रहने वाले अनेक ऋषि राजा की राजधानी में आये। वहाँ राजा जनमेजय और सहस्रों ब्राह्मणों ने उनसे महाभारत सुनने की इच्छा प्रकट की। उन्होंने पास बैठे शिष्य वैशम्पायन से भारत वर्णन करने को कहा। यज्ञ समाप्त होने पर वैशम्पायन नित्य उन मुनियों को महाभारत सुनाने लगे।.......पहले वेदव्यास ने कथाभाग छोड़कर २४००० श्लोकों में महाभारत बनाया था। कथाभाग सहित यह ग्रन्थ १००००० श्लोकों में है। सब व्यास ने १५० श्लोकों में अनुक्रमणिकाअध्याय लिखकर संक्षेप में तब पर्वों का वर्णन कर दिया। उन्होंने इसे शुकदेव—अपने पुत्र को पढ़ाया। तदनन्तर अन्य शिष्यों को। तब व्यास ने ६० लाख श्लोकों की एक और भारत संहिता बनायी। उसके ३ लाख श्लोक स्वर्ग में, १५ लाख श्लोक पितृलोक में और १४ लाख श्लोक गन्धर्व लोक में हैं। मनुष्य लोकमें केवल १ लाख श्लोक हैं। देवलोक में नारद, पितृलोक में असित देबल और गन्धर्व लोक में इसका प्रचार शुकदेव ने किया है। १ लाख

श्लोकों की यह भारत संहिता जनमेजय के सर्पयज्ञ में वैशम्पायन ने सुनायी।

यह है कथा का पुराना उल्लेख। स्पष्ट ही यह बहुत बाद का वर्णन है। कृष्ण द्वैपायन का नाम व्यास क्यों पड़ा ? कहते हैं पहले बहुत-सी ऋचाएं, यजुस् इत्यादि थे, अर्थात् बहुत-सा पुराना साहित्य था जो वेद कहलाता था। उन रचनाओं को अलग-अलग ऋषियों के घर में सुरक्षित रखा जाता था। कृष्ण द्वैपायन ने उन सबको इकट्ठा किया और उनको ही चार भाग में सम्पादित किया। जो ऋचाएं यानी कविताएं-स्तुतियाँ आदि थीं, उन्हें ऋग्वेद कहा, उसी के गाये जाने लायक और कुछ अन्य गीत भी सम्पादित करके सामवेद कहा, जो गद्य प्रधान रचनाएं थीं उन्हें यजुर्वेद कहा। बाकी रचनाएं 'छन्द' कहकर छोड़ दीं, जो बहुत बाद में अथर्ववेद कहलाने लगीं। चूंकि उन्होंने बाँटा था, इसलिये वेद का विभाजन करने के कारण उनका नाम वेदव्यास पड़ा।

वैसे देखा जाये तो स्पष्ट लगता है कि वैदिक युग का अन्त हो रहा था, उस समय व्यास ने यह आवश्यक कार्य कर डाला।

उग्रश्रवा ने जो संक्षिप्त महाभारत सुनाया है यह यों प्रारम्भ होता है : क्रोध-रूपी दुर्योधन एक बड़ा भारी वृक्ष है, उसका तना कर्ण है, शकुनि डालियाँ हैं। दु:शासन उसका फूल-फल है, बुद्धिहीन धृतराष्ट्र उसकी जड़ है। वैसे ही धर्म का रूप युधिष्ठिर एक बड़ा भारी वृक्ष है, अर्जुन तना है, डालियाँ भीमसेन है, नकुल सहदेव फल-फूल हैं। श्रीकृष्ण वेद और वेदज्ञ ब्राह्मण उसकी जड़ हैं।

पूर्व समय में एक महाबली महापराक्रमी राजा पाण्डु थे। उन्होंने कई देश जीते थे। उन्हें शिकार का शौक पड़ गया। इससे वे अनुचरों के साथ मुनियों के बीच रहने लगे। (मुनियोंके बीच वैसे शिकारी का क्या काम ?) एक दिन वन में मृग का जोड़ा मैथुन कर रहा था। राजा ने बाणसे मृग को मार डाला। मृग ने शाप दिया : तुमने मुझे सम्भोग के समय मारा है, सो ऐसे ही स्त्री-सहवास में तुम भी मरोगे। अलग में मृग-मृगी ऋषि और ऋषि-पत्नी थे। राजा के उस समय कोई सन्तान न थी। मुनि को दुर्वासा ने एक मन्त्र बताया था। कुन्ती ने वंश-नाश होते देखकर धर्म, वायु, और इन्द्र से युधिष्ठिर, भीम और अर्जुन को जन्म दिया और अश्विनिकुमारों से पांडु की दूसरी स्त्री माद्री ने नकुल-सहदेव को। पाँचों पुत्र मुनियों में ही रहे। एक दिन माद्री से सहवास करते समय पाण्डु शापवश मर गये। तब

ऋषि लोग जटाधारी ब्रह्मचारी पाण्डवों को लेकर धृतराष्ट्र के पुत्रों के पास गये। और उन्हें पाण्डुपुत्र बताकर, चले गये। किसी ने अविश्वास किया। किसी ने विश्वास। तब आकाशवाणी ने कहा: नहीं, डरो मत! यह पाण्डु के ही पत्र हैं।

कथा का प्रारम्भ इस प्रकार हुआ है। आगे की घटनाएं मूल कथा को लेकर चलती हैं।

इसका तात्पर्य यही है कि मूलकथा इसी प्रकार पान्डु से ही प्रारम्भ हुई होगी जिसमें स्वयम् व्यास पात्र नहीं थे। बाद मे व्यास भी पात्र बन गये।

इस प्रकार हमने महाभारत के लेखक, प्रणयन, सम्पादन काल, मूलकथा, और विषयवस्तु को संक्षेप में देखा। हमने इसके विस्तार की भी छाया सामने प्रस्तुत की है। अब मेरे सामने यह समस्या आई कि क्या रखा जाये जो महाभारत कहा जाये?

(१) महाभारत की कथा का रूप जो व्यास ने लिखा होगा?

(२) या वह रूप जिसे वैष्णवों ने बादमें सम्पादित कर दिया था।

(३) या शैव और परवर्ती प्रभावों से मिले हुए रूप को रखा जाये, जो कि महाभारत का वर्तमान स्वरूप है।

(४) इसमें भी दो रूप हैं, एक तो वर्तमान रूप में प्राप्त मूलकथा और दूसरा सारी अन्य कथाओं समेत।

अन्त में मैं इसी निर्णय पर पहुँचता हूं कि आज जिसे महाभारत कहते हैं वही जाननी चाहिये क्योंकि अब महाभारत का मूल्य इसमें नहीं है कि व्यास ने क्या लिखा था; उसका मूल्य इसमें है कि वह एक बहुत लम्बे समय की साहित्यिक रचना है।

हम कह सकते हैं जैसे एक वैदिक युग था वैसे ही महाभारत युग भी था।

वैदिक युग भी काफी लम्बा है। उसमें

(१) स्तुतियों में प्राचीन देवताओं के वर्णन के वहाने उस युग का वर्णन मिलता है जो वेद के प्रारंभिक रूप के लिखे जाने के पहले का समाज प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद में पढ़ना चाहिये। इसमें हम मातृसत्ता से पितृसत्ता तक आते हैं।

(२) स्तुतियों में अतीत के पुरुषों-मनुष्यों का वर्णन है, जो देव-युग के बाद का

युग प्रस्तुत करता है। ऋग्वेद में प्राप्त है । पितृसत्ता से हम खेतिहर समाज तक आते हैं।

(३) ऋग्वेदकालीन युग का वर्णन है। जिसमें आर्य और दास का भेद मिलता है। यह प्रलय के बाद का युग है।

(४) ऋग्वेद के दसवे मण्डल में हमें चातुर्वर्ण्य समाज मिलता है (सामवेद में वे ही कविताएं हैं अतः उसमें विशेषता नहीं।) ।

(५) यजुर्वेद में हमें अश्वमेधकाल मिलता है जब आर्यों ने दिग्विजय की थी। ब्राह्मण-क्षत्रिय संघर्ष होता है। क्षत्रिय पृथ्वी के स्वामी बनते हैं। अनार्यों से सम्बन्ध बढ़ते हैं।

(६) अथर्ववेद में हमें आर्यों में अनार्यों का काफी मिलन प्राप्त होता है। (महाभारत में वर्णित कथा का यही युग है)

(७) ब्राह्मण साहित्य को पढ़कर लगता है कि समाज बदल गया था। अब यज्ञ केवल धर्म की एक परम्परा थी, अतः कर्मकाण्ड में अतीत की सामाजिक प्रचलित रीतियों (यज्ञों) की व्याख्या मिलती है, और इस युग में क्षत्रियों की दर्शन पक्ष में ब्राह्मणों से प्रतिद्वन्द्विता दिखाई देती है।

(८) उपनिषद साहित्य में दार्शनिक चिन्तन है और आर्य-अनार्य चिन्तन घुल-मिल जाता है। दासप्रथा लड़खड़ाने लगती है।

इस लम्बे युग-विकास के बाद महाभारत का युग प्रारम्भ होता है।

(१) जिस समय वैदिक भाषा तो लौकिक-संस्कृत भाषा हो चुकी है और वैदिक युग समाप्त हो चुका है। इसमें ऊपर के आठों युगों की कथाएं विस्तार से दुहराई जाती हैं और उनके बारे में प्रचलित विभिन्न परम्पराएं एकत्र कर ली जाती हैं। राजवंशों की कहानियाँ, भूगोल, इतिहास सब ले लिया जाता है।

(२) महाभारत कथा में वर्णित युग का चित्रण इसमें होता है और परवर्त्ती वैदिक काल का भी, और उसके बाद के युग भी इसमे चित्रित होते हैं।

(३) पहले जो वर्ण व्यवस्था केवल आर्यों में थी, उसे हम सारे भारत की जातियों में फैल जाते देखते हैं।

(४) पहले की ग्राम सभ्यता धीरे-धीरे नगर सभ्यता से पिछड़ने लगती है।

(५) पहले जो ब्राह्मण-क्षत्रिय श्रेष्ठ थे, अन्त में हम वैश्यों को भी सिर उठाते देखते हैं।

(६) हम आर्यों की शक्ति को राजनीति के क्षेत्र मे नष्ट होते देखते हैं और अनार्यों को डरते हुये पाते हैं।

(७) आर्यों और अनार्यों के देवी-देवता घुल-मिल जाते हैं और हम आर्यों और अनार्यों को एक नये धर्म की ओर आते देखते हैं जो ब्रह्मा, विष्णु और महादेव को प्रधानता देता है और पुराणों में वर्णित हिन्दू धर्म की पृष्ठभूमि बनता है। यह अब वैदिक धर्म नहीं रहा है।

(८) सारा भारत विभिन्न राज्यों में बँटा हुआ मिलता है। महाभारत की मूल कथा हुई तो उस समय थी जब वैदिक संस्कृत भाषा प्रचलित थी। परन्तु यह काव्य जनता में पलता रहा और इसका रूप भी बदलता, बढ़ता रहा। जिस समय परवर्ती वैदिक भाषा में उच्च वर्ण ब्राह्मण और उपनिषद् लिखे जा रहे थे, उस समय की जनभाषा लौकिक-संस्कृत थी। उसी भाषा में यह काव्य बढ़ता रहा। उपनिषद्काल के बाद यहाँ लौकिक संस्कृत का युग आया और महाभारत का कलेवर बढ़ता गया। धीरे-धीरे जनभाषा बदलने लगी और लौकिक संस्कृत उच्च वर्गों की भाषा हो गई और पाणिनि (६०० ई० पू०) तक जनभाषा प्राकृत हो गई जिसको गौतम बुद्ध ने बहुत आश्रय दिया था। संक्षेप में यह कह सकते हैं, महाभारत का प्रणयन उस समय प्रारम्भ हुआ जब उच्च वर्णों में वैदिक भाषा चलती थी। तब लौकिक संस्कृत अर्थात् जनभाषा में इसका प्रारम्भ हुआ था और यह तब तक बनता रहा, जब लौकिक संस्कृत भी उच्च वर्णों की भाषा हो गई और जनता की भाषा धीरे-धीरे बदलकर प्राकृत हो गई, वह भाषा हो गई जिसमें गौतम बुद्ध ने उपदेश दिए थे। इस प्रकार इसके प्रणयन का युग काफी लम्बा रहा है, बल्कि कहना चाहिए कि यह कई कालों तक बनता रहा।

महाभारत के बाद हमें भारतीय इतिहास में बुद्ध, चाणक्य और चन्द्रगुप्त मौर्य्य का युग मिलता है। यदि हम देखें तो हमें तीनों युगों में यह भेद मिलता है—

वैदिक युग

(१) देवयुग के अन्त में वेदों का प्रणयन प्रारम्भ।

(२) वैदिक युग के प्रारम्भ से अन्त तक हमें विकास का लम्बा क्रम मिलता है। (पहले अभी जो हमने लिखा है।)

(३) आर्य, नाग, असुर, राक्षस आदि जातियाँ मिलती हैं। चातुर्वर्ण केवल आर्यों में भी दिखता है।

(४) घुमक्कड़ जीवन से हम यहाँ ग्राम सभ्यता के चरम विकास तक पहुँच जाते हैं।

(५) इस समय इतिहास ब्राह्मण-क्षत्रिय का ही है। वैश्य और शूद्र बहुत दबे हुये हैं। केवल ब्राह्मण 'अवध्य' हैं अर्थात् मारा नहीं जा सकता।

(६) वैदिक देवताओं का प्राधान्य मिलता है।

महाभारत युग

(१) वैदिक युग के अन्त में महाभारत का प्रणयन प्रारम्भ। इसको पाँचवा वेद भी कहा जाता है।

(२) महाभारत के प्रणयनकाल में एक लम्बा विकास मिलता है। (उपर्युक्त को फिर देखिये—पीछे)

(३) आर्य, नाग, असुर, राक्षस आदि जातियाँ घुल-मिल जाती हैं, और चातुर्वर्ण्य के अन्तर्गत ही सब दिखाई देते हैं।

(४) ग्राम सभ्यता से धीरे-धीरे हम नगर सभ्यता तक पहुँच जाते हैं।

(५) इस समय ब्राह्मण और क्षत्रिय के अतिरिक्त वैश्य भी महत्त्व पाने लगता है और उसको भी प्रभुत्व मिलता है। दास प्रथा मिलती है, पर पहले जैसी कठोर नहीं।

(६) वैदिक देवताओं का ह्रास होकर पौराणिक देवता जुटते हैं।

बुद्ध से मौर्य युग तक

(१) पालि भाषा का प्राधान्य। लौकि संस्कृत उच्च वर्णों की भाषा बन जाती है

(२) महाभारत में ब्राह्मण-आधिपत्य के बाद स्थापित होने वाले क्षत्रियकाल का विनाश मिलता है। उसके बाद के युग के राजा हमें क्षत्रिय नहीं मिलते। चन्द्रगुप्त 'वृषल'—घटिया क्षत्रिल था, शुंग ब्राह्मण थे, कण्व ब्राह्मण थे, यवन, शक, पह्लव, कुषाण विदेशी थे। सातवाहन ब्राह्मण थे, भारशिव नाग ब्राह्मण थे, वाकाटक भी श्रेष्ठ क्षत्रिय नहीं थे, गुप्त और वर्धन लोग वैश्य थे।

(३) केवल चातुर्वर्ण्य मिलता है कुछ जातियाँ जो वेद को और चातुर्वर्ण्य को नहीं मानतीं, वे म्लेच्छ कहलाती हैं।

(४) नगर सभ्यता का ही प्राधान्य मिलता है।

(५) इस समय तक वैश्य 'अवध्य' हो जाता है, उसका महत्त्व इतना बढ़ जाता है। दास-प्रथा मिलती है परन्तु केवल घरेलू दास-प्रथा के रूप में।

(६) पौराणिक और वैदिक देवताओं का विरोध प्रारम्भ होता है।

संक्षेप में यही विकास का रूप है।

महाभारत के प्रत्येक विषय पर एक-एक विशाल ग्रन्थ लिखा जा सकता है, जिसका हम विस्तारभय से यहाँ उल्लेख नहीं कर सकते।

हमें यह याद रखना आवश्यक है कि महाभारत का कोई भी अंश कभी भी 'ऐतिहासिक' और 'आधुनिक' दृष्टिकोण से नहीं लिखा गया था। उस युग के मनुष्य आज की तुलना में कहीं अधिक चमत्कारों में विश्वास करते थे।

ईसा से लगभग ३०० साल पहले ही महाभारत का प्रस्तुत रूप अधिकांश तैयार हो चुका था। महाभारत का प्रणयन, दास-प्रथा के टूटने के प्रारम्भ से लेकर वहाँ तक हुआ है जहाँ दास-प्रथा समाप्त होकर सामन्तीय युग अपना सिर उठाता है। वैदिक काव्य केवल उच्च वर्णों की चीज़ थी, महाभारत ने उसे जनता की चीज़ बना दिया। इसलिये वाल्मीकि की बनायी कथा जब शुंगकाल में आज का विशाल कलेवर पा गयी तब उसे ही 'आदिकाव्य' कहा गया, क्योंकि 'काव्य' रसप्रधान माना जाने लगा। महाभारत विद्रोह के युग का साहित्य है, जिसमें क्षत्रियों के गण उठे थे, जिसमें वेद की शक्ति का ह्रास होकर पौराणिक देवता उठे थे, जिसमें चातुर्वर्ण्य सारे भारत में फैला था। किन्तु महाभारत के रचयिता ब्राह्मण थे। यद्यपि ब्राह्मणों ने बदले हुए युगों में बदलती परिस्थितियों को निरंतर स्वीकार किया और उनका धर्म भी कुछ का कुछ हो गया, परन्तु अपने पुराने अधिकारों का नाश उन्हें दुःख जरूर देता रहा, इसलिये वैष्णव और शैव धर्म ने जो उनको अधिक 'मानवीयता' की ओर खींचा था, अधिक सभ्य बनाया था, उस सबके बावजूद उन्होंने यही कहा कि अब 'ह्रास' का समय आ गया है, अब 'कलिकाल' आ गया है। यह भाव जनता में भी उतर गया—आर्य और अनार्य दोनों के घुले-मिले समाज में उतर गया। दास-प्रथा तो नष्ट हुई पर यह विचार

अवश्य जन-समाज में उतरा, क्योंकि पहले समाज ग्राम्य-सभ्यता में था और इसमें इतने 'द्वन्द्व' नहीं थे, जितने 'बढ़ते हुये व्यापार' के समाज ने पैदा कर दिये। समाज पहले की तरह छोटा-छोटा नहीं रहा। बड़ा-बड़ा हो गया। नगर-सभ्यता ने अपनी 'विषमतायें' पैदा कर दीं। स्वयम् महाभारत में आता है कि पहले स्त्री-पुरुष सम्बन्ध सत्ययुग में संकल्प (स्त्री-पुरुष का स्वतन्त्र सम्भोग) था, त्रेता में संस्पर्श (स्त्री पुरुष का सगोत्र विवाह) हो गया, द्वापर में मैथुन (स्त्री-पुरुष गोत्र छोड़कर विवाह) और कलिकाल में द्वन्द्व (स्त्री सम्पत्ति, पुरुष स्वामी) हो गया। खेतिहर समाज की भूमिपर बढ़ते व्यापार ने यह नये मानदण्ड खड़े किये थे।

किन्तु भारतीय चेतना इतने में ही सीमित नहीं रही। समाज में विषमता थी अवश्य, परन्तु दास प्रथा टूटी थी, नये चातुर्वर्ण्य का निर्माण हुआ था, 'राजा' के रूप में व्यवस्था का नया रूप उठा था, उस सारी प्रगति का भी चित्रण हुआ और रामायण में वह सब मिलता है। उस में नये सामन्तीय जीवन का आदर्श प्रस्तुत किया गया। महाभारत ने यहाँ अन्त किया था कि मनुष्य का सत्य और धर्म ही सबसे ऊँचा होता है, जो युद्ध और अशान्ति से ऊपर मनुष्य को सदेह स्वर्ग ले जाता है, उसके लिये कृष्ण का अवतारत्व भी काफी नही होता ; रामायण ने देवताओं की जगह मनुष्य—पुरुष—के सर्वश्रेष्ठ गुणों को स्थापित करके राम जैसे वीर नायक को खड़ा किया जो दुष्ट-दलन करने वाला, त्यागी और जन-सेवक था, एक पत्नीव्रत था। नरकाव्य को प्रारम्भ से अन्त तक दृढ़ता से स्थापित करने वाला काव्य ही आदि काव्य कहलाया। समाज की विषमता का विवेचन करते हुये भारतीय मनीषी महाभारत में यह कहकर चुप हो गये थे कि सबकुछ देव के आधीन है, कर्मफल से ही सबकुछ मिलता है, केवल मनुष्य का सत्य विजयी होता है, परन्तु रामायण में उन्होंने कहा : दैव होता है, कर्मफल भी होता है, सत्य भी आवश्यक है, परन्तु मनुष्य का पौरुष ही उसे भगवान् बना देता है। जो अपने स्वार्थ से ऊपर लोक-कल्याण को लेकर चलता है, वही पुरुष का आदर्श है।

सामन्तीययुग दास-प्रथा के बाद समाज में नयी चेतना लाया था। महाभारत ने उपनिषदों का सत्य स्वीकार किया था कि 'ब्रह्म' एक है, कर्मफल से जन्म-जन्मान्तर होता है। इसलिये उसने उस चातुर्वर्ण्य को स्वीकार किया था जिसमें

आर्य और अनार्य घुल-मिल गये थे, जिसमें हर एक के देवता को सम्मान मिला था। उसी के फलस्वरूप समाज में जागृति हुई थी। भरत ने 'रस' को काव्य का प्राण मानकर 'साधारणीकरण' को स्वीकृत करके कला और काव्य को सबके लिये खोल दिया था, उसी का परिणाम 'रामायण' बनी जो सबके लिये थी।

अन्त में हम दो बातें कहते हैं। महाभारत के रचयिताओं में गजब की निष्पक्षता थी। उन्होंने पक्षपात करने के बावजूद भी अपनी निष्पक्षता को नहीं खोया और दूसरे, महाभारत के पात्र एक ओर बहुत ही ऊँचे उठते हैं तो दूसरी ओर उनमें बहुत ही कमजोरियाँ भी दिखायी देती हैं। कोई भी दूध का धोया पात्र हमें यहाँ नहीं मिलता। महाभारत का ही कमाल है कि इतने विशाल पैमाने पर इतने विस्तार से यह लिखा गया है, किन्तु इसका हर पात्र अपनी अमिट छाप छोड़ जाता है, इसका हर पात्र एक बड़ा ऊँचा व्यक्तित्व बनकर सामने आता है। क्या कहूँ मैं इसके वर्णनों के बारे में। प्रेम-विरह, युद्ध-शौर्य, वीभत्स, भयानकता, रौद्रता, अद्भुत, और आश्चर्यजनक, दया-ममता, वात्सल्य, दान, क्षमा, हास्य, करुणा और शान्त—समस्त प्रसंगों में ऐसे मनोहारी वर्णन मिलते हैं कि देखते ही बनता है। इसके अतिरिक्त जानकारी के विषय में तो यह आकाश जैसा विस्तृत है। कालिदास, भारवि और माघ और ऐसे ही न जाने कितने प्राचीन कवियों से आज तक के कवि इससे प्रेरणा लेते रहे हैं।

भारतीय मनीषियों ने इसे पंचमवेद कहकर इसका समुचित सम्मान ही किया है। हम कह सकते हैं कि महाभारत में धर्म लौकिक जीवन बनकर उपस्थित हुआ है, जिसमें सबसे बड़ी चीज है मनुष्य की 'मनुष्यता' और उसी को तईनी अधिक महत्ता देने के कारण महाभारत सार्वभौम और सर्वकालीन 'प्रेरणा' का स्रोत बनकर जीवित रहा है और जीवित बना रहेगा।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य और भारतीय भक्ति-आंदोलन

हिन्दी के आदिकालीन काव्य में हमें दो तरह के कवि मिलते हैं। एक वे हैं जो सामंतों के आश्रित थे, वीररस, और शृंगार रस की ही रचनाएं प्रायः किया करते थे। दूसरे वे सिद्ध कवि थे जो जनता में ब्राह्मणवाद के विरुद्ध अपने स्वर उठाया करते थे। इन्हीं सिद्धों की बानियों की परम्परा हमें नाथ जोगियों में भी मिलती है जो इनके उत्तराधिकारी थे।

दोनों ही साधनाएं व्यक्तिपरक थीं। किन्तु समाज के प्रति एक विशेष अब्राह्मणवादी दृष्टिकोण रखने के कारण, इन लोगों ने एक आन्दोलन सा खड़ा कर दिया था। बौद्धों का शून्य योगियोंमें निरंजन था, और इस प्रकार शैव प्रभावने अभावात्मकता को हटा कर उसकी जगह भावात्मक दृष्टिकोण की स्थापनाकी थी, यद्यपि उस पर अपनी ही युग की सीमाएं थीं।

लगभग १३ वीं शती के उत्तरार्द्ध से १५ वीं शती तक हिन्दी में ही नहीं, भारत में, हमें रामानन्द, कबीर, नामदेव, चैतन्य, नानक भक्त और सुधारक दिखाई देते हैं जिन्होंने मनुष्य को जाति पाँति के बंधनों से दूर करने की चेष्टा की, जनता में साहस जगाने का प्रयत्न किया।

१५ वीं शताब्दी से १७ वीं शती तक हमें दूसरे ढंग के भक्त दिखाई देते हैं। यह लोग तुलसीदास और सूरदास की भाँति हमें भारतके प्राचीन गौरव के बारे में गाते हुए दिखाई देदे हैं। यह लोग वेद की मर्यादा को फिर से स्थापित करते हैं। ये लोग वैष्णव हैं और वैष्णवों की मानवतावादी परम्परा भी इनमें प्राप्त होती है।

१४ वीं शती से १६ वीं शती तक हमें एक और विचारधारा के कवि दिखाई देते हैं जो मुसलमान सूफी हैं। वे निर्गुण ब्रह्म को मानते हैं, व्यक्तिपरक योग साधनाओं का भी उनमें प्रभाव है, किन्तु उनका विशेष स्वर 'प्रेम' है और उस प्रेम में हमें प्रायः भक्ति की ही तीव्रता का आस्वादन मिलता है। १७ वीं शती के

बाद हमें कबीर की परम्परा के निर्गुणिया कवियों का छुटपुट स्वर भी सुनाई देता है, और सगुण कवियों का भी, किन्तु साहित्य प्रमुख रूप से दरबारी काव्य में वह जाता है और हम देखते हैं कि युग का रूप ही बदल चुका होता है।

हिन्दी में भक्तिकाल का अध्ययन ५ शताब्दियों का अध्ययन है, और इन पाँच शतियों का अध्ययन तभी समझ में आसकता है, जब शाखाओं का पता लगाते हुए हम १३ वीं से लेकर ईसापूर्व ५ वीं शती तक के विशाल तने को समझ लें और उसके पहले स्पष्ट न दिखाई देने वाली धरती के अन्धकार में उतरी हुई और भी पुरानी शतियों के इतिहास की जड़ों का आभास प्राप्त करें।

कुछ विद्वानों ने भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ जैन और बौद्ध वेद-विरोधी आंदोलनों में माना है, जो कि ठीक नहीं है। इसका मूल जैन विद्रोह में नहीं है। यह एक लम्बा विकास है, जिसे समझे बिना हिन्दी का भक्तिकाव्य नहीं समझा जा सकता। विद्वानों ने अभी तक जो भूल की है, हम उसे नहीं दुहरायेंगे क्योंकि भक्ति एक व्यक्तिपरक साधना दिखाई देती है, परन्तु वास्तव में वह एक सामाजिक आन्दोलन है। जिसने शताब्दियोंमें अपना उत्थान किया है।

भक्ति का प्रारंभ और उत्थान

भक्ति का अर्थ है भगवान से लौ लगाना। श्रद्धा और विश्वास उसके लिए आवश्यक हैं। परमात्माकी सत्ता स्वीकार न करने पर भक्ति का कोई प्रश्न नहीं उठता। भक्ति एक प्रकार का पूर्णतादात्म्य है अपने उपास्य से। भारतीय भक्ति परम्परा में परमात्मा से कई तरह से लौ लगाई जा सकती है। परमात्मा को स्वामी मान कर अपने को दास के रूप में रखकर उसकी सेवा की जा सकती है। उसे मित्र बनाया सकता है। उसे पुरुष मानकर अपने को, पुरुष होते हुए भी, स्त्री ही समझा जा सकता है। सखी सम्प्रदाय ऐसा ही था जिसमें एकमात्र पुरुष तो परमात्मा को माना जाता था, और बाकी सब आत्माएं स्त्री-सखी मानी जातीं थीं। शास्त्रीय विभाजन में भक्ति नौ प्रकार की मानी गई है) इनमें से प्रत्येक भक्त ने किसी एक को अपनाया है।

जिस प्रकार किसी लक्ष्य की ओर ले जानेवाले कई मार्ग माने जाते हैं, उसी प्रकार भारत में ज्ञान, भक्ति और कर्म यह तीन प्रकार के योग माने गये हैं जो मनुष्य को उसके जीवन की सार्थकता प्राप्त कराते हैं। योग का अर्थ है युक्त हो

जाना। सारी भारतीय साधना प्राय: इन तीनों योगों के अन्तर्गत आ जाती है। हम नहीं जानते कि प्रागैतिहासिक काल में क्या होता था परन्तु पुराने ग्रन्थ बताते हैं कि यह तीनों योग इतिहास में अलग-अलग परिस्थितियों और समयों पर उन्नत और महत्वपूर्ण हुए हैं। बल्कि कहना चाहिए कि यह तीन धाराएं हैं जो इस भारत भूमि पर बहती आ रही हैं, कभी किसी का फैलाव दिखाई देता है, कभी किसी का; भक्ति का भी इतिहास में ऐसा ही कार्य रहा है।

सामवेद में नारद प्रणीत गानों में हमें भक्ति के बीज मिलते हैं। नारद का, भक्ति-परिवारमें आगे चलकर पुराणोंने बहुत बड़ा स्थान बनाया है। कालांतरमें तो नारदके भक्ति सूत्र भी प्राप्त होते हैं। उपनिषद् साहित्य में बृहदारण्यक में हमें आत्मा और परमात्मा की प्रीति के सम्बन्ध में भक्ति की कुछ अंकुरित अवस्था मिलती है। किन्तु भक्ति जैसी कि वह अब तक विकसित हुई है, अपने स्पष्ट रूप में सबसे पहले हमें महाभारत में दिखायी देती है। विष्णु, शिव और देवी के सम्बन्ध में ही भक्ति का उल्लेख किया गया है। वैदिक देवताओं और ब्रह्म उपनिषदीय का जब इतिहास में प्रभाव कम पड़ गया तभी हमें भक्ति पर जोर मिलता है। क्या यह विचारणीय नहीं है कि भक्ति का विकास समाज की एक विशेष अवस्था में भारत में हुआ? भक्ति का विकास, कब होता है? अब हम इसी पर विचार करेंगे।

भक्ति का विकास और आधार

वैदिक देवता प्राकृतिक प्रतीक थे, या पूर्वजपूजा के चिन्ह थे। वे बलि लेते थे, धन देने वाले माने जाते थे। ब्राह्मण ग्रन्थों में देवता कर्मकाण्ड की व्याख्याओं से परिपूर्ण मिलते हैं। उपनिषदों में वे ही देवता प्राय: अपनी शक्ति खो बैठते हैं, और हम उन पर एक अदृष्ट ब्रह्म सर्वव्यापी को छा जाता हुआ देखते हैं। किन्तु महाभारत में वही ब्रह्म अपने प्रगट रूप में ब्रह्मा बन जाता है और उसके साथ हम उसके प्रतिद्वन्द्वी शिव और विष्णु को देखते हैं। स्वयं शिव और विष्णु के विकास को भी देखना आवश्यक है। शिव श्वेताश्वर उपनिषद में एक भयानक देवता है। महाभारतमें वह भयानक तो है, किन्तु शीघ्रप्रसन्न होने वाला भी कहा गया है। विष्णु ऋग्वेद में सूर्य माना गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में वह उपेन्द्र-इन्द्र का

छोटा भाई माना गया है। महाभारत में हमे नारद बताता है कि विष्णु श्वेतद्वीप में रहता है और वहाँ आँखों को चौंधिया देने वाला एक ऐसा उजाला छाया रहता है कि उसे कोई देख नहीं सकता। नारद के अनुसार विष्णु का आदि रूप ऐसा है कि वदन तो आदमी का है, पर चेहरा घोड़े का है। वह ऐसा देवता है कि सब उससे डरते हैं। किन्तु उसी समय ब्रह्मा से उसकी संधि हो जाती है और ब्रह्मा उसका मातहत बन जाता है। इसके उपरान्त हमें विष्णु के दूसरे रूप के दर्शन होते हैं जिसमें वह क्षीरसागर में साँप पर सोया रहता है और गरुड़ उसका वाहन बन जाता है।

हम कह सकते हैं कि शिव और विष्णु के यह बाद के रूप वही हैं जो हमें आज तक प्रचलित रूप में दिखायी देते हैं। प्राचीन पुरुषों की भक्ति का आधार मुख्यतया इन्हीं दोनों देवताओं के प्रति मिलता है। इसलिए भक्ति को समझने के पहले उसके आधार को समझना अधिक आवश्यक है।

इन दोनों देवताओं के साथ पूरे-पूरे परिवार हैं। जिस प्रकार इन्द्र के साथ अनेक देवता हैं; इनके साथ भी कई लोग हैं।

शिव, जिसे महाभारत में वरुणरूपी और काम भी कहा गया है, उसके साथ अनेक भूतप्रेत हैं, कार्त्तिकेय हैं, गौरी हैं, सर्प हैं, वृषभ है, कार्त्तिकेय के साथ मोर है, मातृकाएं हैं। गौरी के अनेक रूप हैं, चामुण्डा, चण्डी, घोरा, छिन्नमस्ता इत्यादि और प्रत्येक के साथ अपने-अपने पशु हैं, नौकर हैं। शिव के परिवार में गणेश सबसे बाद में मिला है, वह गजमस्तक है, उसका भी वाहन चूहा है। स्पष्ट ही यहाँ हमें शत्रु टॉटेम साथ-साथ दिखायी देते हैं। शिव बड़ा दार्शनिक भी है, योगी भी है, और फिर वह केवल लिंग ही है। वह निरन्तर लोक का कल्याण करने को घूमा करता है। कोई भी उसकी उपासना कर सकता है। उसके पत्थर लिंग पर पानी और बेलपत्र चढ़ा देना काफ़ी है। वेद का ज्ञाता ब्राह्मण भी उसकी पूजा करता है और किरात-चण्डाल भी उसकी पूजा करते हैं।

विष्णु, जिसे सूर्य भी माना गया है, उसकी स्त्री श्री भी कामदेव से संबन्धित है। उसकी एक विष्वक्सेना है, उसके सेवक नाग और गरुड़ परस्पर शत्रु होकर भी मित्र हैं। विष्णु की विशेषता है, कि वह बार बार पृथ्वी पर धर्म की विजय के लिए अवतार लिया करता है, वह लोक का पालन करता है। वेद के देवता

उसके चाकर हैं, स्वयं ब्रह्मा उसके पेट के कमलनाल से निकलकर वेद बोलता है। ब्राह्मण विष्णु की पूजा करता है, क्योंकि विष्णु वेद-रक्षक है, परन्तु वेद गुण उसी के गाता है। विष्णु की पूजा बहुत कठिन है, परन्तु सबको विष्णु-पूजा, विष्णु-चर्चा करने का समान अधिकार है, शूद्र, चाण्डाल भी विष्णु के भक्त आसानी से बन सकते हैं।

यहाँ मैं विस्तार से इसकी व्याख्या नहीं करूंगा कि अनेक आर्य और अनार्य जातियों के विश्वास, टॉटेम, दर्शन और देवताओं की अन्तर्मुक्ति से शिव और विष्णु के परिवार बन गये थे, यहाँ केवल इतना ही कहना काफी है कि भक्ति के आधार वे देवता हैं जो सबके लिए समान रूप से खुले हुए हैं। वे देवता पहले न इतने महत्वपूर्ण थे, न इतने सौम्य, जितने बाद में दिखायी पड़ते हैं। जिस समय इनके प्रति भयजनक आस्था की जगह भक्ति-भाव दिखायी पड़ता है, उस समय से मानव की उदात्त कल्पना का रूप धारण करके हमारे सामने लाये जाते हैं। शिव अन्त में बहुत ही दयालु बना दिये जाते हैं और विष्णु तो कृष्ण के रूप में स्वयं सौन्दर्य और आनन्द के ही प्रतीक बन जाते हैं।

भक्ति की सामाजिकता का विवेचन

बुद्धकालीन क्षत्रिय आर्यों में, गणों में शिव और विष्णु की चर्चा नहीं थी, वे केवल ब्रह्म उपनिषदीय तक की बातें करते थे। किन्तु उपनिषदीय साक्ष्य और विद्वानों द्वारा समसामयिक माना गया। महाभारत का पाँचराम उल्लेख यह प्रमाणित करता है कि भारत के अन्य भूभागों और जातियों में यह देवता अपनी शक्ति और महत्व प्राप्त करते रहे थे।

यदि हम लिखित प्रमाणों को देखें तो पता चलता है कि पहले भारत में कई अनार्य देवता थे, जिसमें एक शिश्न देवता भी था। आर्य इन्द्र, यम, वरुण आदि की पूजा करते थे। वैदिक युग के अन्तिम समय में जब आर्यों में अनार्यों और उन आर्यों के (परम्परात्मक पुरोहित वर्गों में पहले न माने गये) विश्वास अथर्व-वेद में टोना-जादू बनकर घुसे, तब ब्राह्मण ग्रन्थों में सबकी कर्म-काण्डात्मक व्याख्या की गयी। किन्तु उपनिषद काल में हलचल मच गयी। यह स्पष्ट मान लिया गया कि नया 'विराट ब्रह्म या जो अव्यक्त था सर्वव्यापी था सबसे परे था।

इसी काल में हम यह भी देखते हैं कि ब्राह्मण और क्षत्रिय जो पहले विराट पुरुष के मुख और बाहुओं से निकले माने गये थे, अपना पुराना महत्व खो बैठे और उन्हें 'ब्रह्म' का 'ओदन' अर्थात् भोजन माना गया और यह स्वीकार किया गया कि आत्मा सबमें 'एक' थी, 'समान' थी जो समाज में विभिन्न जातियों में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र के शरीर धारण करके रहती है। जन्मगत स्वत्व की जड़ यहीं खोखली पड़ गयी। यजुर्वेद में ही जिन जैनों के उल्लेख मिलते हैं, वे तप प्रधान जीवन माना करते थे। वे दया को बहुत महत्व दिया करते थे। जैन कथाओं में इसके अनेक उल्लेख हैं कि वे दासों पर अत्याचार करने के विरुद्ध थे। इस युग में यह लोग बुझे नहीं थे। इसके बाद के युग में ही हमें कपिल क्षत्रिय दार्शनिक से मिलने को पालकी पर जाता हुआ राजा रंहूगण क्षत्रिय मिलता है, जिसे, पालकी ढोने वाला ब्राह्मण दास जड़भरत आत्मा की समानता का उपदेश देता है और कहता है कि यदि स्वामी दास पर अत्याचार करेगा तो अन्त में निम्न वर्ण में जन्म लेगा। हम देखते हैं कि पुनर्जन्म भी एक समय उच्चवर्णों के अत्याचारी को रोकने वाली भावना थी। क्षत्रिय कपिल ने ईश्वर की सत्ता को मानने से इनकार कर दिया था। उसके बाद क्षत्रिय और वैश्यों के जैन आन्दोलन ने परमात्मा को बिल्कुल ही अलग कर दिया था। क्षत्रियों के बौद्ध आन्दोलन ने आत्मा को भी अस्वीकार कर दिया था। वह लोकायत धर्म कहा गया, क्योंकि लोक ने उस विद्रोह को स्वीकार किया। किन्तु केवल जड़ भौतिकवाद से समाज की किसी भी समस्या का हल नहीं निकलता था। उस समय आस्तिक यानी वेद को प्रमाण मानने वाले दर्शनों का महत्व बढ़ा। अनीश्वरवादी सांख्य अन्त में वेदान्त की धारा में डूब गया। भारत ईश्वर की ओर लौट आया क्योंकि समाज को एक आधार की आवश्यकता थी। उसके रूप में मनुष्य की समस्त उदात्त कृतियाँ जीवित रह सकती थी। उसी का रूप विष्णु और शिव ने पाया और इस पूरे ऐतिहासिक दौर में इन दोनों देवताओं के आधार को लेकर समाज में जो आन्दोलन चला, वही भक्ति आन्दोलन का प्रारम्भ था।

पुराने ग्रन्थ हमें अधिक नहीं परन्तु इतना बताते हैं कि—

१—महाभारत काल में एकतंत्र व्यवस्था का प्राधान्य था, क्षत्रिय राजा थे,

आर्यों के अतिरिक्त कई अनार्य जातियाँ थीं, शूद्र और दास होते थे, जिन्हें सम्पत्ति रखने का हक नहीं था। वैश्य को महाभारत में पहले तो इतना नीचा कहा गया है कि उसको भी सम्पत्ति रखने का अधिकार नहीं है, किन्तु बाद में जाजलि इत्यादि के प्रसङ्ग में वैश्य की बहुत प्रशंसा की गयी है। महाभारत में हमें ग्राम सभ्यता मिलती है।

२—बुद्ध काल में हमें गणतन्त्र भी मिलता है, क्षत्रिय ही वहाँ शासक हैं; अन्यत्र एकतंत्र है, परन्तु वहाँ क्षत्रियों का एकाधिकार नहीं है। चाणक्य के समय में नन्द राजा शूद्र मिलता है। अब प्राचीन असुर, दानव, आदि जातियाँ नहीं मिलतीं। नाग भी मिलते हैं तो वे या तो ब्राह्मण कहलाते हैं, या क्षत्रिय या शूद्र। वैश्यों के पास अपार सम्पत्ति है। नदियों का व्यापार बड़ा फैला हुआ है। ग्राम सभ्यता पर नागरिक सभ्यता हावी मिलती है। चाणक्य के समय इस मर्यादा का कि ब्राह्मण की भाँति वैश्य—वाणिज्य करने वाला—अवध्य है, हमें दण्ड के दशकुमार चरित् में उल्लेख मिलता है। हमें दास अब घरेलू दासों के रूप में मिलते हैं। हमें अलग-अलग पेशा अख्तियार करने वाली जातियाँ मिलती हैं, जिनकी पंचायत होती है और श्रेणियाँ बनी हुई हैं।

इतने भर से हमें यही पता चलता है कि इस लम्बे दौरान में कुछ परिवर्तन अवश्य हुए थे, जो इस प्रकार प्रगट हुए। इसके साथ ही हम यह भी देखते हैं कि चाणक्य के समय में चाण्डाल और ब्राह्मण विष्णु मन्दिर में एक साथ प्रवेश करते हैं। कोण ने धर्मशास्त्र के इतिहास मे इस पर विस्तार से लिखा है। हम यह भी देखते हैं कि ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों के युगों का ब्राह्मण अब अनेक देवी देवताओं को मानता है और पौराणिक देवता उठ खड़े होते हैं। इससे हमें यही पता चलता है कि—भक्ति का आन्दोलन निम्न वर्णों और वर्गों के उत्थान का आन्दोलन है। ब्राह्मण और क्षत्रियों के पारस्परिक स्वार्थों और सत्ता के युद्ध में ब्राह्मण ने जन आन्दोलन के पक्ष में अपने को डालकर, अपने सर्वाधिकारों को एक-एक करके त्याग कर, अपने को क्षत्रियों से बचाया है और भक्ति आन्दोलन को स्वीकार किया है।

यही है वह भक्ति आन्दोलन, जिसने पुनर्जन्म का भय दिखाकर एक ओर निम्न वर्गों के सर्वनाशी विद्रोह को रोका है, क्योंकि उस समय उसका अर्थ किसी

नयी व्यवस्था का सूत्रपात्र नहीं होता, और दूसरी ओर उसने उच्च वर्णों के सर्वाधिकारों पर अंकुश लगाया है। चाणक्य के समय तक हमें दास प्रथा समाप्त हो गई सी मिलती है और भूमिबद्ध किसान उठता हुआ मिलता है। साहित्य के क्षेत्र में भरत का यह सिद्धान्त मिलता है कि साहित्य सबके लिए है, क्योंकि मनुष्य मूलत: समान है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतीय सामन्ती व्यवस्था के उदय का जन-आन्दोलन जिसने मानवीय मूल्यों को अधिक से अधिक प्रश्रय दिया, वह भक्ति आन्दोलन था।

भक्ति के महत्व का प्रश्न

समाज में दास प्रथा के धीरे-धीरे होने वाले अन्त से जो प्रगति आई उसने महाभारत के 'भाग्यवाद' पर रामायण के 'पौरुष' को स्थान दिया। सिकन्दर यवन से लेकर श्विखिल हूण तक के आक्रमण के युग में भक्ति आन्दोलन की ही गत्यात्मक शक्ति थी जिसके माध्यम से विभिन्न विदेशी जातियों को भारत पचा गया। भक्ति की सामाजिक आवश्यकता इतनी बड़ी थी कि अनीश्वरवादी हीनयान-बौद्ध सम्प्रदाय को भी सामन्ती व्यवस्था के अनुकूल महायान में बदलना पड़ा और भक्ति के आधार को पकड़ना पड़ा। जब तक विदेशियों के आक्रमण होते रहे, और भारतीय व्यापार विदेशों में फैला रहा, तब तक यहाँ का सामन्त वर्ग भी प्रगतिशील रहा और भारत भी बार-बार राजनीतिक एकता की ओर अग्रसर होता रहा।

लेकिन हर्षवर्द्धन के बाद भारतीय व्यापार को उत्तर-पश्चिम में तुर्कों और अरबों ने छीन लिया। समुद्री व्यापार अरबों के हाथ में चला गया, भारतीय उपज अपने-अपने प्रदेश में रमने खपने लग गयी। राजनीतिक एकता की आवश्यकता चली गयी क्योंकि उसका आर्थिक आधार नहीं रहा और सामन्तवर्ग विषम भार बनकर जनता पर बैठ गया क्योंकि लगभग ४०० या ५०० वर्षों तक यहाँ कोई विदेशी आक्रमण नहीं हुआ और सामंत का रक्षक स्वरूप भी अपना महत्व खो बैठा।

यही वह समय था जब दक्षिणभारत में वैष्णव आलवार और शैव आद्यार अपना सिर उठा रहे थे और एक बार फिर श्रीमद्भागवत के माध्यम से भक्ति पर

जोर देकर कुचली हुई जनता का साथ देने वाले आन्दोलन चल रहे थे। आलवार चमार भी थे, दरिद्र भी थे। नीलन गरीबों की पेट की भूख मिटाने को डाकू तक हो गया था। यही वह समय था जब सामंती जीवन में कोई गतिशीलता नहीं थी। मनुष्य योग और व्यक्तिपरक चमत्कारों में डूब रहा था। यौन जीवन में घोर कामुकता भर गई थी। निम्न जातियाँ जो वेद को नहीं मानती थी, विद्रोह कर रही थीं। बौद्ध बज्रयान में डूबकर संयोग को ही जीवन की सार्थकता मान बैठे थे। उस समय भक्ति ने ही भारत को एक बार फिर जीवन शक्ति दी थी और इसी युग का विवेचन हिन्दी के भक्तिकालीन जीवन की पृष्ठभूमि है।

न ईसाईमत, न इस्लाम भक्ति-आन्दोलन तो इनके किसी भी सम्बन्ध से भारत में पुराना है। भक्ति-आन्दोलन मानवतावादी आन्दोलन है, जिसने वैदिक युग के समाज की संकीर्णता को समाप्त किया, जिसने भयानक देवताओं की जगह सुन्दर देवताओं का सृजन किया, जिसने आर्य और अनार्य जातियों का भेद मिटाया, जिसने परमात्मा के रूप मे मनुष्य के सर्वश्रेष्ठ गुणों और उदात्ततम रूप की व्याख्या की, जिसने बाद के युग में ग्रीक से लेकर विदेशी हूणों तक को भारतीय समाज में अंतर्युक्त कर लिया, जिसने सामन्तीय समाज की जातिहीनता में जनता को उच्च वर्णों की मार से बचाया।

हिन्दी में भक्ति काल

इसी भक्ति आन्दोलन ने तन्त्रों और बौद्धों के 'योनवाद' को राधाकृष्ण के रूप में पवित्र बनाया, इसी ने (अरबों के आक्रमण से शंकित ब्राह्मणवादी शङ्कर ने जब उत्तर से दक्षिण तक भारत के लोगों को एकत्र किया तब) उस एकता को स्थिर करने की सामर्थ के रूप में रामानुज के विशिष्टाद्वैत का रूप ग्रहण करके संकुचित जाति प्रथा का विनाश किया। रामानुज ने चमारों को मन्दिर में प्रवेश कराया, मुस्लिम जातियों को भक्ति का अधिकार दिया* और भक्ति के नाम पर लोगों की जातियों को 'शुद्ध' किया था। इतिहासज्ञ कहते हैं कि गजनी के महमूद के समय में सेवक पाल ने जिस 'शुद्धि' का आधार लेना चाहा था, वह भी धर्मशास्त्रों के वैष्णव प्रभाव के अन्तर्गत पाई जाती है। यह था भारत का वह चित्र

* जिसका पर्याय दक्षिण का 'तुलुकनाञ्चार' है।

जिस समय तुर्कों ने भारत पर भयानक हमला किया और यहां के समाज की जड़ों को हिला दिया।

गजनी से लेकर गोरी तक के आक्रमण बताते हैं कि राजनैतिक एकता की भावना भारत में मौजूद थी। जयपाल से लेकर पृथ्वीराज चौहान तक ने सांमतों का सङ्गठन किया था। किन्तु आर्थिक एकता का आधार न होने के कारण सामंत कभी भी मिल नहीं सके और विदेशी जीतते ही चले गये। विदेशियों को तीन वर्गो में बाँटा जा सकता है। मुस्लिम शासक बर्ग जिसमें सामन्ती शक्ति थी, मुस्लिम पुरोहित वर्ग जिसमें धर्म के ठेकेदार थे। तीसरा वर्ग सेना का था, जिसमें मुसलमान भी थे, और गैर-मुस्लिम कवायली भी थे जो केवल लूट के लिए पागल थे। इन तीनों वर्गो को जब तक हम भारत में अलग-अलग करके नहीं देखेंगे हम कभी भी भक्ति-काल को नहीं समझ सकेंगे। भक्ति काल को हम तीन भागों में बाँट सकते हैं।

१— १२ वीं शती के अन्त से १५ वीं शती तक यह तुर्कों के आक्रमण का समय है। इस समय में मुसलमान शासक भारत में जम गये। ब्राह्मण वाद के अत्याचार से शोषित अनेक जातियाँ—(शांक्त और वेद विरोधी शैव तथा बौद्ध) इस्लाम की गोद में चली गयी। इस्लाम के नाम पर इस पूरे युग में मुस्लिम पुरोहितवर्ग और मुस्लिम शासक वर्ग ने एकता करके अपने तीसरे वर्ग को लूटसे से पामाल रखा। शासक वर्ग पुरोहित वर्ग पर इतना निर्भर था कि खलीफ़ा से खिताब माँगता था, खलीफ़ा को रिश्वत देकर पद खरीदता था, राज्य की आर्थिक व्यवस्था का आधार लूट और जजिया था, जिसकी राजनीति का रूप था जेहाद। भारतीय जनता पर भीषण अत्याचार किये गये। भारतीय सामंत वर्ग निरन्तर युद्ध करता रहा। कुचला जाता रहा। इस युग में निर्गुण संप्रदायों के कवि हुए।

इन दोनों युगों में सूफी कवि हुए जिन्होंने पहले इस्लाम की पौरोहित्य कट्टरता और सामंती धनोलोलुपता और विलास-तृष्णा का विरोध किया (जायसी) और बाद में वे पौरोहित्य कट्टरता के हाथों से परास्त हो गये। (उस्मान)।

३—१७वीं शती के बाद हमें भारत में जातीयताओं का उत्थान और विदेशी यूरोपीय लोगों का आगमन दिखायी देता है। और हिन्दू और मुस्लिम सामंत प्रायः मिल गये से लगते हैं, अपने स्वार्थों के लिए वे झगड़ते हैं और क्रम से

ब्राह्मणवाद और मुल्लावाद का अपने लिए प्रयोग करते हैं।

यह है वह विभाजन जिसमें हम हिन्दी के भक्त कवियों की अवस्थिति पाते हैं।

संतों द्वारा जनजागृति का अभियान

मुहम्मद गौरी के बाद कुतुबुद्दीन ऐबक ने शासन किया। गुलाम वंश के बाद खिल्जी सैन्यवाद का प्रभुत्व हुआ जिसने सारे भारत को लूटा, कुचला और हिन्दू जनता को भीषण कर के बोझ से दबा दिया। जनता बहुत दरिद्र हो गयी, कोई नागरिक स्वतन्त्रता नहीं रही। उन्हें कला के क्षेत्र में भी स्वतन्त्रता नहीं थी। तुगलवंश के शासन ग्रहण पर यद्यपि हमें मुस्लिम शासक वर्ग और मुस्लिम पुरोहित वर्ग की टक्कर मुहम्मद तुगलक के समय में दिखायी देती है, किन्तु जहाँ तक हिन्दू प्रजा का सवाल था, मुहम्मद तुगलक बड़ा भारी अत्याचारी था। उसने अकाल में भीषण कर लगाकर दुआब के भूखे किसानों को खुली बगावत करने को मजबूर कर दिया और फिर बुरी तरह कुचला। उसका उत्तराधिकारी फीरोज मुस्लिम पुरोहित वर्ग के हाथों में खेल गया और उसने प्रजा पर काफी अत्याचार किये। तुगलक के उत्तराधिकारी लोदी हुए जो भी अत्याचार और लूट मे अपने पूर्ववर्त्तियों से पीछे नहीं थे। यही निर्गुण कवियों का समय है जो प्राय: विजेता लुटेरे बाबर मुगल तक चलता है।

इस युग में एक ओर भारतीय जनता का समूह ब्राह्मणों के जातिवाद से पीड़ित था, दूसरी ओर विदेशियों की नीति से। जातिवाद केवल छुआछूत नहीं था, वह आर्थिक ऊंचनीच और शोषण पर कायम था। वेद विरोधी जातियाँ इस्लाम के अङ्क में चली जा रही थीं। जातिप्रथा का विरोध करने वाली योगी सम्प्रदायकी शक्तियाँ व्यक्तिपरक और चमत्कारपरक होकर अब स्वयं महेथगिरी में डूब चली थी और आडम्बर मात्र उनके सामने का कार्य्यक्रम बन चुका था।

इसी समय दक्षिण भारत का जातिप्रथा विरोधी वैष्णव प्रभाव रामानन्द के स्वर में उत्तर भारत में गूंजने लगा। चैतन्य ने बङ्गाल में कृष्ण का नाम मुसलमानों के लिये भी खोल दिया। चैतन्य के मुसलमान शिष्य खुदा या अल्लाह न कह कर हरि कहा करते थे, मानों वे विदेशी प्रभाव से अपनी भाषा और संस्कृति को बदलना नहीं चाहते थे। चैतन्य मे शासक वर्ग से सक्रिय विरोध

करके सुल्तान के पिट्ठुओं को अपना शिष्य बनाया था।

महाराष्ट्र में नामदेव उठ खड़ा हुआ, जिसने ज्ञानेश्वर की भक्ति का पक्ष पकड़ा और तमाम निजी जातियों के इस उत्थान से एक नई लहर फैल गयी। नामदेव ने विध्वस्त और पराजित पंजाब में दौरा किया और जनबल एकत्र करके मंदिरों के विनाश के युग में, विदेशी शासक और पुरोहित वर्गों को चुनौती देकर मन्दिर तक बनवा दिये। भक्ति के इस आन्दोलन में राजकुल की मीराबाई ने स्त्रियों के बंधन तोड़ दिये। सामन्त पापा ने प्रजा के कल्याण के लिए अपना सब कुछ लुटा दिया। (सेना) नाई और (रेदास) चमार एक ओर हिन्दुओं के जाँत-पाँत तोड़ने लगे। मानों भारत का निम्न और शोषित वर्ग इस्लाम के लुटेरे रूप से टक्कर लेने को खड़ा हो गया था, जिसका घर और बाहर के शोषण से कोई भी सम्बन्ध नहीं था।

और तब उठा कबीर, मध्ययुग का प्रचण्ड नेता, जिसको लोदी शाह सिकन्दर ने हाथों से कुचलवा देना चाहा, परन्तु उच्चवर्गीय मुस्लिम शासकीय पारस्परिक फूट और सत्ता के संघर्ष तथा जनता के विद्रोह के कारण अपना दुष्कर्म पूरा नहीं कर सका। कबीर ने योगियों के परिवार-विरोध से संघर्ष किया, पण्डितों के शोषण और छुआछूत को तोड़ा, शासक मुस्लिम का दमन उखाड़ने की चेष्टा की, मुस्लिम पुरोहित वर्ग की लोभ-लूट की भावना को जनता में खोला, महन्थों के आडम्बरों को चुनौती दी, साधुओं का पराया माल उड़ाना बुरा बताया, गृहस्थ बन कर हाथ से कमा कर खाने को ही सर्वश्रेष्ठ बताया और भारतीय संस्कृति से प्रेम करने का नारा लगाया। उसने विदेशियों की अच्छी बातों को स्वीकार किया, अन्ध-विश्वास से लड़ा, उसने हिन्दू और मुस्लिम जनता को हिन्दू और मुस्लिम उच्च वर्गों से अलग देखा। भक्ति के माध्यम से उसने ईश्वर को जनता के पास पहुँचाया और जब उच्चवर्ग हत्या, रक्तपात, लूट, ईर्ष्या और पाप में डूबे हुए थे, जन समाज को प्रेम का सन्देश दिया। कबीर अपने वक्त सभ्यता के शासन केन्द्र मक्का तक हो आया था। उसके परवर्त्ती नानक ने भी मक्का की यात्रा की। और नानक ने हिन्दू और मुस्लिम जनता की एकता करने की चेष्टा की। उसने उच्चवर्गों के लोभ, हत्याकाण्डों को पाप कहा और जनता की रक्षा करने के लिए संगठन का प्रारम्भ किया।

राजनीतिक परिवर्तन

ऐसा लगता था मानों नेतृत्व अब जनता के हाथ में चला गया था ! जनता तेजी से कोशिश कर रही थी कि पंडितों और मुल्लाओं, मुस्लिम और हिन्दू सामन्तों की शक्ति निर्बल हो जायगी और जनता उन मानवीय मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने की चेष्टा करने लगी, जो दोनों धर्मों में मानवहित को ही सर्वश्रेष्ठ कहते थे। किन्तु जन विद्रोह का स्वर राजनैतिक परिस्थिति बदलने के कारण बदल गया। यहाँ यह याद रखना आवश्यक है कि राजनैतिक परिस्थिति का बदलना आर्थिक परिस्थिति में मूल उत्पादनों के साधनों का बदलना नहीं था। अत: वह ऊपरी परिवर्तन था।

बाबर मुगल ने सत्ता हासिल की। मुगल शासकों ने भारत में राज्य कायम किया, मुस्लिम पुरोहितवर्ग की सहायता से नहीं, तलवार के बल पर, हिन्दू सामन्तों की पारस्परिक स्पर्धा का लाभ उठा कर इन्होंने हिन्दू सामन्तों को मित्रता मे बांधना शुरू किया। इन शताब्दियों में काफी अंश तक विदेशी और देशी मुसलमान अपने को इसी देश का रहने वाला मानने लगे थे। अकबर ने जब शक्ति ग्रहण की तब उसने सूरवंश मे जो मुस्लिम पुरोहित वर्ग का प्रभुत्व था उसे तो घटाया ही, वह स्वयं मुसलिम पुरोहित वर्ग का शत्रु था। उसने इस्लाम धर्म की बागडोर जबरन अपने हाथ में लेली। उसने भारतीय जनता और हिन्दू शासकवर्ग में फूट डाली, सामन्तवर्ग को अपनी ओर मिलाया। उसने फारसी जैसी विदेशी भाषा को राजकाज की भाषा बनाकर शासकों और शासितों के बीच न केवल खाई डाली, वरन् भारतीय संस्कृति पर विदेशी संस्कृति को लादा।

हमें याद रखना चाहिए कि सिक्कों पर से भारतीय नक्शा और लक्ष्मी की शकल को उड़ा देने का जो काम गोरी और खिलजी जैसे मुस्लिम पुरोहित वर्ग के साथी शासक नहीं कर पाये थे, वह अकबर ने कर दिखाया। उसने जनता पर से जजिया कर हटाया, किन्तु इतने अधिक अन्य कर लगा दिये कि बाद मे साम्राज्यवादी बोझ के भार से जर्जर और विद्रोहोन्मुख जनता पर से औरंगजेब जैसे मुस्लिम पुरोहित वर्ग के साथी शासक को भी ५७ करों को जनता पर से हटाना पड़ा। अकबर ने हिन्दू और मुस्लिम सामन्तों का जागीर प्रथा को तबाल-

लेनुमा नौकरी बनाकर साम्राज्य सत्ता में बादशाह की शक्ति को सर्वोपरि बना दिया। उसके समय में तुलसीदास के शब्दों में—

जनता की हालत अकालों से बदतर हो गयी थी। किसान की खेती नहीं थी, वनिक की बनिज नहीं थी, नौकर को चाकरी नहीं थी। भूपाल यानी राजा पराधीन और कायर ही हो गये थे। कलियुग अपने पूरे जौम पर था।

अकबर ने भारतीय कलाकारों की बची खुची श्रेणियों और पंचायतों को तोड़कर उन्हें ईरानी और तूरानी व्यापारियों के मातहत करके मुनाफे से वंचित करके गरीब कर दिया। अवश्य ही शासन के सुभीते के लिए उसने धर्म की स्वतन्त्रता दी। मथुरा के पठान और धर्मान्ध शासक को हटाकर उसने वल्लभाचार्य को मित्र बनाया। उसने मुस्लिम पुरोहित वर्ग की भड़काई यूसुफजाई अग्नि से मुकाबला किया।

ऐसी परिस्थिति में भक्ति में जन-विद्रोही नेतृत्व समाप्त हो गया। ब्राह्मणवाद ने फिर वैष्णव सहूलियतों के आधार पर प्राचीन भारतीय गौरव को जगाया। सूरदास और कुंभनदास आदि ने वेद विहित प्रेम का पंथ पकड़ा और शून्यवादी, जाति विरोध निर्गुणियों पर जबर्दस्त चोट की। तुलसीदास ने फिर रामराज्य का 'यूटोपिया' खड़ा किया और बड़े कायदे से भक्ति को दरबारी सामन्ती रूप देकर मुगल वैभव और शोषण के विरुद्ध भारतीय जनता को रामराज्य का आदर्श और सुख दिखाकर विदेशी संस्कृति के विरुद्ध उभाड़ा। तुलसी ने जहाँ इस्लामी शासकों का विरोध किया, वहीं वैष्णव प्रभाव के कारण कट्टर ब्राह्मणों का भी विरोध किया और भारतीय संस्कृति से प्रेम न करने वाले पराधीन स्वार्थी हिन्दू सामन्तों का भी विरोध किया।

किन्तु तुलसी का मुख्य ध्येय वेद मार्ग की स्थापना करना था। उसने उस समय तक की प्रचलित हिन्दी को संस्कृत से भर कर जनता को पुरानी संस्कृति की विरासत दे दी और इस प्रकार अनजाने ही दो काम हो गये। तुलसी के मानस का समय वही है जब ऐतिहासिक फरिश्ता ईरानी संस्कृति और उच्चवर्गीय मुस्लिम स्वार्थों की रक्षा करता हुआ भारत का ऐसा इतिहास लिख चुका था जिसमें यह दिखाया गया था कि भारत इस्लाम के पहले ही ईरान का दास था।

तुलसी के काव्य का परिणाम यह हुआ कि उच्च हिन्दू सामन्तों का भय मिट गया क्योंकि निम्न जातियों का विद्रोह तुलसी ने विदेशी साम्राज्य के विरुद्ध मोड़ दिया और उच्च हिन्दू सामन्त एक ओर यदि विलास में डूब गये तो दूसरी ओर सिक्ख, मराठा, आदि जातियों का विकास हुआ। निर्गुण सम्प्रदायों के उत्थान ने जिस मानववाद की नींव डाली थी और जो महाराष्ट्र और पंजाब में उठी थी, वह साम्राज्य के शोषण के विरुद्ध अब फौजी ताकतों के रूप में उठ खड़ी हुई और भक्त रामदास का लोकरक्षक राम और गोविन्दसिंह की दुर्गा ने निर्गुण के बोल में भी स्थान बना लिया। यह दोनों सम्प्रदाय जाति-प्रथा के विरोधी थे और उन्होंने सशस्त्र विद्रोहों को जन्म दिया।

भक्ति का व्यक्तिपूरक स्वरूप

किन्तु हिन्दी भक्ति काव्य इस युग में प्रमुख नहीं रहा। भक्ति का मानववादी स्वर अब उच्च वर्णीय नेतृत्व के कारण बदल गया था और भक्ति सामाजिक न रह कर व्यक्तिपरक साधना हो गई। भक्ति का वैष्णव मानववादी स्वर परवर्त्ती काल में बंगाल के विद्रोही ब्रह्मचारियों में उग्र और भारतीय मध्यवर्गीय के उत्थान के साथ गाँधी की अहिंसावादी चेतना, जाति प्रथा विरोधी भावना बन कर उठा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि हिन्दी में भक्ति काव्य जनता और उच्चवर्गीय आन्दोलन का प्रतीक है।

पहले रूप में यह जनता का विद्रोह था, परवर्ती रूप में यह उच्च वर्गों का जनता को सहूलियतें देकर संगठन करने का आन्दोलन था। अपने अन्तिम रूप में यह संगठनात्मक विद्रोह के रूप में प्रगट हुआ और अन्ततोगत्वा व्यक्तिपरक साधना में डूब गया। इतिहास के विद्यार्थी को यह देखना आवश्यक है कि कबीर की परम्परा यारी साहब, बुल्लासाहब, दरिया साहब आदि के रूप में चलती रही, किन्तु निर्गुण विद्रोह का नेतृत्व प्राय: उच्चवर्णीय वर्ग-स्वार्थों और महंथ-गिरी में पलकर जनता से अलग होकर मुस्लिम और ब्राह्मण पुरोहितवर्ग की भाँति ही एक तीसरा पुरोहित वर्ग बन चुका था, जो जनता के विद्रोह का स्वर खोकर व्यक्तिपरक साधना का ही प्रतीक बन गया।

वैदिक युग के बाद जिस विचार-धारा ने आर्य और अनार्य का भेद मिटाकर

समस्त जातियों के लोगों को वर्गों यानी पेशों के हिसाब से बाँटा, और पहले जो ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र का विभाजन केवल आर्य्यों में था, उसे वृहत्तर समाज पर लागू करके, विभिन्न देवताओं के प्रति सहिष्णुता का भाव जाग्रत करके मानवतावाद का स्वर गुंजाया वह शैव-वैष्णव भक्ति का ही उदय था। उसके बाद का सारा भारतीय इतिहास तीन भागों में प्रमुखतया बाँटा जा सकता है।

चाणक्य से हर्षवर्द्धन तक हिन्दू शासकों का शासन काल, हर्ष से पृथ्वीराज तक गतिरोधकाल, पृथ्वीराज चौहान से १८५७ तक मुस्लिम शासकों का शासन काल।

इन तीनों युगों में उत्पादन के साधन भारत में अपरिवर्त्तित रहे, केवल परिवर्तन वाह्य परिस्थितियों में था। भारतीय व्यापार के विकास से मेल खा जाने के कारण चाणक्य से हर्ष तक भारतीय सामन्त वर्ग विदेशियों से रक्षा करने के कारण निरन्तर प्रगतिशील रहा। यह बहुत बड़े मार्के की बात है कि भारतीय सामन्तों से शायद ही किसी एक-दो ने ही विदेशियों को जाकर जीतने की चेष्टा की। वे परस्पर लड़ते थे, परन्तु वैसे उनका काम स्वरक्षणात्मक ही रहा। इस युग में भक्ति ने ही मानववादी विचारधारा से देश को जागरूक रखा। क्षत्रियों से द्वन्द्व के कारण पुरोहित वर्ग (ब्राह्मण) जनता से मिलकर चला और भक्ति की शक्ति व्यापक बनी रही। ब्राह्मण वर्ग को किसी विदेशी पुरोहित वर्ग से टक्कर का सामना भी नहीं करना पड़ा। जो आया समर्पण कर गया।

किन्तु गतिरोध काल में सामन्त और ब्राह्मण वर्ग बोझ बन गया। उस समय जनता ने विद्रोह किया और विरोधी स्वर उठाया। सामन्त वर्ग कुचलने में लगा, किन्तु ब्राह्मण ने एक ओर जहाँ जनता का दमन किया, ब्राह्मणों में वैष्णव परम्परा ने जनता की ओर भी अपना स्वर मिलाया। इसके बाद मुस्लिम शासक वर्ग हावी हुआ। ब्राह्मण वर्ग को विदेशी पुरोहित वर्ग (मुल्ला) से कड़ी टक्कर लेनी पड़ी। दोनों के अपने सांस्कृतिक रूप थे। इस्लाम ने ईरानी संस्कृति का रूप धारण करके पूरा सरंजाम इकट्ठा कर लिया था। भारतीय वेद-विरोधी लोग इस्लामी शासकों से मिल गये। ब्राह्मण अपने बचाव में इतना घबड़ा गया कि उसका जन-सम्पर्क टूट गया। उसके बोझ से दबी जनता कराह

उठी। उस समय जनता के नेता उठे जिन्होंने हर प्रकार के शोषकों की निन्दा की। किन्तु संस्कृति उच्च वर्गों की ही नहीं, जनता की भी होती है। मध्यकाल में हिन्दू का अर्थ प्रजा था, मुसलमान का राजा। उस समय फिर ब्राह्मणवाद ने भक्ति की आड़ में सिर उठाया और सगुण कवियों ने नये ब्राह्मणवाद की स्थापना की।

हिन्दी का भक्ति काव्य इन दो विद्रोहों की कहानी है। पहले का नेतृत्व जनता के हाथ में था, दूसरे का नेतृत्व पुरोहित वर्ग के हामियों के। हर हालत में भक्ति आन्दोलन मानववादी विचारों का विद्रोही स्वर था, वह सामूहिक आन्दोलन था जिसने परिस्थितियों के अनुकूल अपने विरोधी को पहचान कर उसके विरुद्ध स्वर उठाया, कभी सामन्त के विरुद्ध कभी पुरोहित वर्ग के विरुद्ध और कभी विदेशी शासक के विरुद्ध। हिन्दी का भक्ति काव्य एक लम्बी मानववादी परम्परा के विद्रोही स्वर का चरण है, उसे इसीलिए अलग करके देखने पर लगता है कि वह इस्लाम का प्रभाव था। वस्तुतः वह जनता के संघर्ष की कथा है। भारत में तो इस्लाम के मानववाद से बड़ा मानववाद पहले ही जन्म ले चुका था, क्योंकि यह सहिष्णु था, सबको जीने का अधिकार देता था।

इस्लाम के नाम पर लूटने वाले पुरोहित और शासक वर्ग के भयानक वार के कारण रामानुज का ग्यारहवीं शदी का भक्ति आन्दोलन लगभग २०० बरस पीछे हट गया और शीघ्र ही भारतीयों ने अपनी संस्कृति की रक्षा के लिए जन-विद्रोह का स्वर बदल कर उच्च वर्ण (ब्राह्मण) के उस नेतृत्व को स्वीकार कर लिया जिसमें एक आदर्श सामन्त (राम) के राज्य का स्वप्न था, जिसमें (तत्कालीन मुस्लिम) साम्राज्य के शोषण से मुक्ति की मृगतृष्णा दिखायी दे रही थी। लोगों का भय हट गया। दसमुख राक्षस के मायावी अन्धकारमय शासन को भेदकर दुर्दमनीय कोदण्ड की टंकार प्रतिध्वनित होने लगी। यह नया सम्राट न विलासी था, न उसके कुल में राज्य के लिए भाई-भाई की हत्या करता था। वह केवल न्याय के लिए खड़ा हुआ था। और जनता से पैदावार का केवल १।६ भाग लेता था।

और इतिहास बताता है कि भक्ति का यह विस्फोट भारतीय जातीयताओं के विद्रोह के रूप में शीघ्र ही फूट पड़ा। तत्कालीन सम्राट औरंगजेब ने लड़खड़ाते

साम्राज्य को देखकर, हिन्दू सामन्तों से स्थापित किये गए इस्लामानुयायी शासकों के सम्बन्धों को गलत मानकर, फिर अलाउद्दीन की तरह मुस्लिम पुरोहित वर्ग की सहायता लेकर सैनिक साम्राज्य कायम करना चाहा, किन्तु इतिहास करवट ले चुका था।

वैभव और लोभ का यह इस्लामी स्वप्न इतना मोहक था कि रुमूजेबेखुदी में सर मुहम्मद इकबाल ने औरंगजेब की कल्पना को २० वीं सदी में साकार देखना चाहा जब कि हिन्दी में भक्ति, मैथिलीशरण गुप्त और अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' के हाथों में आलोक के लिए द्वार खोल रही थी।

नये काव्य में नये स्वर और नयी समस्या

नई कविता सदा ही अपने से पुराने युग की तुलना में विद्रोह का स्वर लेकर उठती है। प्रारम्भ से लेकर अब तक प्रत्येक युग में कविता का रूप बदलता रहा है। रूप जब वस्तुगत होता है तो उसे विषयपरक कहते हैं; किन्तु यदि वह वाह्य परिवेशमात्र में सीमित है तो उसे शैली के अन्तर्गत रखा जाता है। एक बार चीनी लेखक और राजनीतिज्ञ माओत्सेतुंग का एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें उन्होंने लिखा था कि, काव्य में दो वस्तु होती हैं: विषय और रूप। उनके मतानुसार दोनों अलग-अलग चीजें थीं। उनका ज़ोर इस पर था कि विषय स्वस्थ और नवीन न होने पर भी कविता या साहित्य के अन्य रूप अपने 'रूप' के कारण आकर्षक हो सकते हैं, किन्तु वे वास्तव में उस नशे के समान हैं जो मस्ती के आलम में अक्ल को गुम कर देते हैं।' इस विचारधारा को पढ़कर प्रगति के हामी लेखकों के घायल दिलों पर मरहम सा लग गया था। उन्हें ऐसा लगा था—जैसे अपनी विचारधारा को न मानने वालों के खिलाफ उनके हाथों में कोई हथियार आ गया था।

श्री प्रकाशचन्द्र गुप्त ने इस विचारधारा से अपनी पूर्ण सहमति भी प्रकट की थी। किन्तु मैंने अन्यत्र इस पर यही लिखा था कि काव्य की वस्तु ही उसके रूप को बनाती है। इस प्रकार शरीर काव्य का विषय नहीं, आत्मा है। शरीर है रूप। हम किसी भी व्यक्ति के वाह्यरूप को देखकर ही यदि चमत्कृत हो सकते हैं तो हम वास्तव में व्यक्ति के पूर्ण रूप का अध्ययन नहीं करते। सज्जा का आचार रागात्मक वृत्ति से सम्बन्ध नहीं रख सकता और काव्य वही है जिसका मनुष्य के भाव-जगत से सम्बन्ध है। इसलिए हम इन दोनों को अलग करके नहीं देख सकते।

जो विचारधारा इन दोनों के बीच रेखा खींचती है, उसकी अपनी स्थिरता नहीं है, उसका दृष्टिकोण संकुचित है, वह वस्तुओं का मूल्यांकन करके सारांश

नहीं निकालता. पहले अपना सारांश निकालकर रख लेता है और समस्त वस्तु को उसके अनुकूल फिट करने का प्रयत्न करता है। काव्य की परिधि शास्त्रों में नियन्त्रित नहीं होती, वह जीते-जागते संसार का भाव चित्रण है, जो सम्वेदनाओं के घात-प्रतिघात मे जन्म लेता है। यूरोप के अनेक वादों की सृष्टि ने हिन्दी में भी कुछ कवियों को चमत्कृत किया है, और नवीनता की इस तृष्णा ने कुछ को यह लाभ भी पहुँचाया है कि उनका उल्लेख उनके अन्यों से अलग होने के कारण हुआ है। किन्तु हमारे सामने एक मौलिक प्रश्न है। वह है नई कविता क्या है ?

यदि वह केवल इसलिए नई है कि प्रत्येक युग में नया सिरजन होता है तो सचमुच वह सत्य के सबसे अधिक पास है, क्योंकि वस्तुत: हमारी व्याख्याएं जितनी बड़ी हैं, नई कविता अभी अपनी पूर्वानुगत व्याख्या के आयाम को भी नहीं पहुँच सकी है। जिस युग में विवेच्य से अधिक विवेचन दिखाई दे उसे गतिरोध का युग मानने में कोई भी हानि नहीं है। संस्कृत साहित्य में भी जब शास्त्र की मर्यादा बढ़ गई तब काव्य का ह्रास हो गया था। जब हमारे कहने को कुछ नहीं होता तब क्या करना चाहिए, कैसे कहना चाहिए, इसी पर बहस होती रहती है। ऐसी ही विडम्बना में कवि कहता है—

देखो, देखो राम !
हमारी भक्ति सतत निष्काम
हमारी भीख माँगती बुद्धि
खड़ी है दरवाजे पर।

—सुन्दर सीकर

जिस युग में कवि अपने पूर्ववर्तियों के गौरव को अपने विक्षोभ में कम करने की चेष्टा करता है, अपने को व्यापक समझकर अपनी समस्त मर्यादाओं को परम्परा से अपने को किसी प्रकार जोड़ना नहीं चाहता, क्योंकि उसे इसमें हीनत्व की भावना का अनुभव होता है, वह कभी भी अपनी गति को सुस्थिर नहीं रख सकता।

संस्कृत साहित्य का गतिरोध एक अपरिवर्त्तनशील, गतिहीन समाज की अवस्थिति के कारण उत्पन्न हुआ था, क्योंकि वह अपनी संकुचित सीमाओं का त्याग करने को तत्पर नहीं था, वह कवि के 'स्व' की कल्पना का आधार

ढूंढने लगा था, जीवन का नहीं।

किन्तु यूरोप का गतिरोध इसके ठीक विपरीत कारणों से आया था। वह था समस्त पुरातन का सहसा ही ढह जाना और नई गति इतनी तेज थी कि उसे झेल जाने की गुरुता वहाँ की संस्कृति मे किसी भी विरासत में नहीं थी। यूरोप की सबसे बड़ी पराजय थी कि वहाँ की नैतिकता का मूलाधार राजनीतिज्ञों के हाथ में चला गया था और इतना सम्मान पाने पर भी १९ वीं और २० वीं सदी के सारे यूरोपीय लेखक प्रकट या गौण रूप से इस नेतृत्व को नहीं सँभाल सके। उनकी आत्मा का संबल उनकी रचनाओं में भी इतना प्रकट नहीं हुआ कि वे अपने नए सत्य की प्रतिष्ठा में मानव की उस आस्था को प्रकट कर पाते जो अपने समय तक दान्ते और गेटे ने किया था, भले ही उन्होंने ईसाई साधना की समस्त कल्याणगरिमा को ही आत्मसात् करके पुन: प्रतिष्ठापित किया था।

इसका कारण यही था कि गेटे और दान्ते का कवि स्वतन्त्र था। सामंतीय व्यवस्था में यद्यपि आर्थिक रूप से कवि पराधीन था, किन्तु उस समय वह अपनी कल्पना और व्यक्तित्व की साधना में अधिक स्वतन्त्र था, क्योंकि उस समय तक कवि की प्रतिभा को ईश्वरीय माना जाता था। हम यह भी जानते हैं कि मध्य-काल में सामंताश्रित कवि अपने आश्रयदाता को प्रसन्न करने के लिए अपने स्तर से ऊपर आते थे। किन्तु तत्कालीन 'उदात्त के क्षेत्र' में कवि पर कोई बन्धन नहीं थे। यूरोप के विकासवाद, वर्गवाद और प्रयोगवाद ने कवि का वह गौरव नीचे गिरा दिया। कवि का जो एक उच्च-स्थान माना जाता था, जिसे संस्कृत साहित्य तक में ऊंचा माना जाता था, उसको यूरोप की उथल-पुथल ने नीचे उतार कर कहा : समान भूमि पर जन्म लेने वाले वर्गों की सीमा में समान रूप से आबद्ध, अन्य कार्यों की ही भाँति एक कविकर्म है, अत: इसके ऊपर जो परम्परा की मिथ्या विडम्बना है, उसे फाड़ कर आँख खोल कर देख !

देखने को वह यथार्थ के पास जबर्दस्ती लाया गया। परन्तु बात यहीं तक नहीं थी। नये युग ने सबसे अधिक बुभुक्षा बुद्धिजीवी को दी क्योंकि उसमें सबसे अधिक तीव्र अनुभूति सक्रिय थी। कवि को पुराने समाज में जो सहज उदार सम्मान प्राप्त होता था, वह उसे मिलना बन्द हो गया।

सबसे बड़ी थपेड़ उसे मार्क्सवाद के कारण मिली जिसने कल्पना को राज-

नीतिक कार्य्यक्रमों का दास बनाया। कवि राजनीति से अलग नहीं रह सकता, यह सत्य है। किन्तु वह राजनीति में बद्ध नहीं रह सकता। यथार्थ का एक सत्य है, युग का भी एक सत्य है, किन्तु कवि के आदर्श का सत्य दूसरा है। कविता कवि के आदर्श का ही सत्य है तो वह राजनीति है, यदि वह युग सत्य के मोतियों में डोरे की तरह पिरोया हुआ है तो निःसंदेह वह कविता है। सांस्कृतिक मानदण्डों की विरासत के अभाव में यूरोप ने कवि के व्यक्तित्व को वाद विशेष के अन्तर्गत ढाल दिया और हिन्दी में भी उसका प्रचलन हुआ। मैं मार्क्सवाद की अनेक आस्थाओं को मानता हूं, स्वयं अपनी कविताएं राजनीति से रंग चुका हूं, प्रचार के उस रूप को भी काव्य के अन्तर्गत मानता हूं, जिसका सोता मन से फूटकर निकलता है, परन्तु मैंने मार्क्सवाद को कभी शाश्वत सत्य नहीं माना, न यही माना कि राजनीति और प्रचार के दायरों में कविता का अन्त है। आज मुझे अपना विरोधी समझने वाले मेरे कुत्सित समाजशास्त्री प्रगतिवादी मित्र जब मुझे अपना मानते थे उस समय (१६४५ ई०) ही मैंने 'राह के दीपक' में कहा था—

> देखता उत्तर हूं मैं हार,
> रमा के चमकीले से मुग्ध हास्यप्लावित नयनों में आज,
> अरे जीवन भी गति है एक, एक धारा निर्बाध !
> सत्य है जिसका रहना और चिंतन है छाँह !
> यही है एक रहस्य !
> अफ़लांतू, सुकरात या कि फिर कन्फ्यूशियस महान
> राम, ईसा कि मुहम्मद मौन
> मार्क्स, एंगिल्स गये सब हार, जा रहे हैं अभिभूत,
> एक परिवर्त्तन सत्य,
> एक अणु की झिलमिल दिखा पाते वह तनिक……

मेरे सामने सदा से यह स्पष्ट रहा कि जैसे समाज के प्रत्येक कर्म की विशेषता है, कवि कर्म की भी है, अपने दायरे में हल चलाना, कलम चलाने से कम नहीं है, और कवि को भी इसी समान विनम्रता का अनुभव करना चाहिए। किन्तु कवि कर्म कोई सीख-सिखा नहीं सकता, अतः इसकी विशिष्टता का अपना

उचित गौरव भी मिलना चाहिए ।

यूरोप की तृष्णा इस सहज संतुलन से परिभ्रष्ट हो गई और वहाँ आयाम की दौड़ मची । हर क्षेत्र में 'नवीन', 'नवीन' की पुकार उठ रही थी । क्या केवल कवि ही पीछे रह जाता ? वह भी दौड़ने लगा । किन्तु अन्यों के कर्म मनुष्य के 'मूल भावों' से सम्बद्ध नहीं थे, अतः जक उन्होंने नहीं उठाई, उठाई कवि ने, क्योंकि व्यक्तित्व का भ्रंश उसे अपने मूलाधार से दूर हटा ले गया । समाज के बदलते मूल्यों की बेला में सारा महाभारत लिखकर व्यास ने भी कहा था कि, 'मैं हाथ उठाकर कबसे चिल्ला रहा हूं, किन्तु मेरी कोई नहीं सुनता ।' ठीक उसी प्रकार यूरोप का कवि भी अन्तस्थ के नाम पर पलायन, और वाह्य के नाम पर भावहीन भूमि पर उतर गया । और संस्कृति के नाम पर उसे नहीं दे सका जिसकी युग को वास्तविक आवश्यकता थी । वह नये मानव का निर्माण कर रहा था, जबकि मानव नया नहीं था । जिस समाज में वह रहता था उसका प्रत्येक बच्चा अपने संस्कारों में 'पुरातन' के अवशेष को लेकर पल रहा था । वह द्वैत ही विकास की वेला में एक विचित्र अवस्था का द्योनक हो गया । पुरातन संस्कृतियाँ राजनीतिक पराभव के कारण नये विकास के साथ चरण रखकर चलने की परिस्थिति में नहीं थी, अपने मध्यकालीन गतिरोधों में फंसी थीं और नयी संस्कृति साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में किसी पुराने मूल्य के अभाव में मृग-तृष्णा में पड़कर दौड़ रही थी, क्योंकि स्वातन्त्र्य और साम्राज्य दो अलग पहलू थे, जिनका द्वन्द्व यूरोप को दबाये हुए था । ऐसे ही समय में मन की सुलगन ने अपने लिए आधारों की खोज की और अन्त में उसकी पराजय अस्तित्ववाद में जाकर समाप्त हुई । इस अति की पृष्ठभूमि में मार्क्सवादकी यांत्रिकता थी जिसने परम्परा के नाम पर केवल उसी को आत्मसात् करने का नारा दिया, जो कि तत्कालीन जनता नहीं, वरन् पार्टी विशेष के स्वार्थ या समझ के अनुपात में उचित बैठता था । अब यह कहना कि किसी भी युग का मनुष्य इतना चतुर हो जाता है कि वह सदा की परेशानियों को दूर कर सकता है । यह वैसी ही भूल है जैसी कि व्यक्तिपरक चिन्तन की अति ने अपने पक्ष में की है । मैं मार्क्स-वादियों का हमदर्द रहा हूँ, और हूँ, किन्तु उतनी ही श्रद्धा इस वाद के प्रति मेरी सदा से रही है, जितनी अन्य उन वादों के प्रति जो कि मनुष्य के सामूहिक

कल्याण को प्रश्रय देते हैं, क्योंकि मैं मनुष्य की मूल उदात्त भावना 'सदिच्छा' को ऊंचा स्थान देता आया हूँ। हमारे सत् और असत् युगापेक्षा में ही बद्ध रहते हैं। मेरा कहने का तात्पर्य यही है कि हमें जहाँ तक हमारी सीमाएं हैं, अपनी बुद्धि खुली रखनी चाहिए और इसहिए हमें सदैव स्मरण रखना चाहिए कि हम केवल बीच की कड़ी हैं।

प्रत्येक युग के मनुष्य का स्वभाव है, पहले एक दर्शन बना लेना। दर्शन बनता है सामाजिक परिस्थितियों के प्रभाव से, किन्तु बन जाने पर वह सामाजिक परिस्थिनि का ही प्रभाव रखने लगता है। प्राचीन मनुष्य विद्रोह करते थे, नया पथ बनाते थे, किन्तु हमें प्रायः यही स्वर मिलता है कि अपने से पुराने को बहुत ही स्वर्णिम समझते थे। और उसके प्रति आदर भी रखते थे। मध्यकालीन चिन्तन मे जब समाज मे व्यवस्था विषमशील गतिरोध को प्राप्त हुई तब दर्शन भी रेखा न रहकर एक गोला हो गया और उसने एक पूर्णत्व का सृजन किया। वह गोला अपने आप मे पूर्ण है, चाहे आप मानें या न मानें। दर्शन, आयुर्वेद, ज्योतिष, काव्य, चित्रकला, स्थापत्य, रसायन, धर्म, पुराण यह सब एक दूसरे के पूरक थे, छोटी सीमाएं होने के कारण यह सब एक दूसरे पर निर्भर थे। अतः परिणाम हुआ कि गोले के अनुयायी गोले में घूमते रहे, बाहर नहीं निकल सके।

नवीन युग का व्यक्ति रेखा पर दौड़ रहा है और प्रायः वह सीधा न जाकर एक नयी परिधि बना रहा है, मानों वह अनजाने ही मध्यकालीन परिधि को सप्रमाण छोटा बना देने के लिए एक नयी, बड़ी और व्यापक परिधि बना रहा है। परन्तु वह यह भूल गया है कि आगे आने वाले युगों का मनुष्य शायद और भी बेतहाशा दौड़कर और भी तेजी काम में लायेगा। वह भी शायद यही सोचेगा कि वह सीधा भागता जा रहा है, पर शायद वह भी अनजाने ही आज के गोले की परिधि से भी बड़ी परिधि बना जायेगा।

मैं यही कहूँगा कि केन्द्र अब भी वही जिजीविषा है। रिरिंसा उसकी अभिव्यक्ति है। और अनेक विन्दुओं की रूपरेखा की परिधि के सारे बिन्दु केन्द्र से ही तादात्म्य रखते हैं। प्रत्येक युग में परिधि बढ़ती है, परन्तु केन्द्र अभी तक वही है। हो सकता है केन्द्र भी बदले, परन्तु अभी तक का इतिहास इतना थोड़ा-सा

"काल" है कि उसके बदलने की कल्पना करना, इतना सहज समझना व्यर्थ है। यह मानों इस रेखाचित्र के अनुसार है—
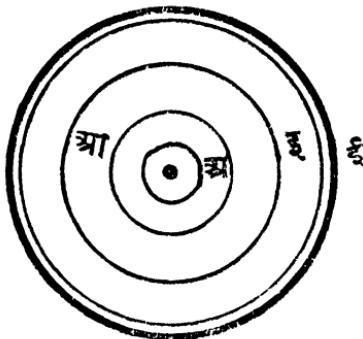
अ अवस्था में आदिम वनौकस मनुष्य की सामूहिकता में व्यक्तित्व की विषमता नहीं थी, किन्तु परिस्थितियों ने उसे पैदा किया। आपस की दौड़ ने दासता को जन्म दिया, और वह शत्रुहत्या के ऊपर दया भावना थी। एक युक्ति ने एक बुराई को पैदा किया, किन्तु मुक्ति विकास थी।

आ में दासता टूटी, सामन्तवाद उठा, मनुष्य की दयनीय परिस्थिति को अधिकार मिले, किन्तु भूमिबद्ध किसान की परिस्थिति पहले की तुलना में युक्ति होने पर भी सामन्तों को प्राचीन राजतन्त्र से बड़ा क्षेत्र दे गई और सर्वाधिकार का गठन बढ़ा। भलाई ने फिर बुराई को पैदा किया।

इ में पूंजीवाद उठा, जिसमें व्यक्ति को पहले से काफी अधिक अधिकार मिले, किन्तु मनुष्य का मनुष्य से सम्वन्ध का माध्यम ही प्रमुख हो गया। भलाई ने फिर बुराई को जन्म दिया।

ई में पूंजीवाद की जगह साम्यवाद ने ली, समाज में व्यक्ति को काफी अधिक आराम मिले, किन्तु मनुष्य को अधिनायकत्व ने दबाया और जिस 'सदिच्छा' के बल पर उसने शताब्दियों से संघर्ष किया था, उसी को दबाने की चेष्टा की गई।

मार्क्स इस चौथी मंजिल को नही समझ सका, उसका जिसका वह प्रतिष्ठाता समझा जाता है, क्योंकि उसकी पृष्ठभूमि में यूरोप की मध्यकालीन संस्कृति थी,

उसमें बहुत वजन नहीं था, और जिस परिवार की उस पर छाया थी, वह कट्टरता में अपनी यहूदी विरासत लिए था इसीलिए उसने सोचा कि अब तक केन्द्र से खिंचने वाले गोले आइन्दा अब नहीं खिंचेंगे और उसने सोचा अब कम्पस की कील कोई नया केन्द्र ढूँढ़ लेगी जो प्रकृति से संघर्ष के रूप में बदलकर यों हो जायगी कि गोले आपस में काटने लगेंगे। परन्तु वह यह भूल गया कि हर परिधि

का विकास मनुष्य के रागात्मक मूल मे केन्द ही से शुरू होता था, यह विकास परिधि का विस्तार मूलतः मनुष्य का प्रकृति से होने वाला निरन्तर संघर्ष था।

क्रोध, ईर्ष्या, विद्वेष, लोभ की प्रवृत्तियों का इन परिधियों ने विकास किया है; इनका जन्म प्रकृति के सामूहिक जीवन का परिणाम है। विराटत्व की सारी कल्पना में प्राचीनों ने इसका हल व्यक्तिपक्ष में ही खोजना चाहा था। तभी कविता इसके प्रति विद्रोह करती है, अपना लघुत्व ही महत्वपूर्ण प्रमाणित करके, किन्तु वह अपने रूप मात्र की नवीनता है, जो व्यक्ति की दीनता की अभिव्यक्ति बन जाया करता था।

प्रश्न है कि यदि लघुत्व की अनुभूति का प्रगटीकरण किसी उद्देश्य की पूर्ति है, या केवल एक अभिव्यक्ति-मात्र है जो निरुद्देश्य है, तो भी यह समस्या कहाँ सुलझती है कि इस अथक परिश्रम का फल ही क्या है? कविता यदि आत्म-संतोष मात्र है तो समाज को क्यों दी जाए? यदि वह समाज की वस्तु है और वह भाव जगत् में नई रूप-सौन्दर्य सृष्टि नहीं है, तो उसका तात्पर्य ही क्या है? अभी मैंने मराठी के एक लेखक का लेख पढ़ा जिसमें कहा गया है कि नयी कविता को भावनानिष्ट अनुरूपता का सिद्धान्त—A theory of emotional equivalences कहना चाहिए। (कविता में नवीनता स्व० बा० सी० मर्ढेकर राष्ट्रवाणी अप्रैल १९५७) किन्तु उनकी व्याख्या केवल यह बताती है कि नयी कविता वस्तुतः नई चित्रात्मक प्रतिपादिता (Imagery propagation) है और कुछ नहीं।

किन्तु यह भी एक भ्रम है। चित्रात्मकता रूप की बात है, और रूप सदैव

कवि विशेष की ग्राह्यता के अनुरूप, अपनी सामर्थ्य के अनुकूल ही, अपनी 'वस्तु' के आधार पर खड़ा होता है। जिस प्रकार रस विशेष एक विशेष शब्दावली की अभिव्यंजना होता है, वैसे ही रूप भी वस्तु से निर्मित होता है। इन दो को अलग मानने में ही आज की मार्क्सवादी और प्रयोगवादी कविता की खाइयाँ खुदती हैं। इन दोनों अतियों में हम केन्द्र को भूल जाते हैं, जिस पर प्राचीनों और मध्यकालीनों का ध्यान निश्चित् ही हमसे कहीं अधिक था, क्योंकि उन्हें समझने को भले ही उनके युग की परिधि को देखना पड़ता है, उनसे स्वायत्त आत्मसंवित्ति स्थापित करने में हमें केवल केन्द्र का आश्रय लेना पड़ता है। और आधुनिकों का केन्द्र हम देख नहीं पाते, परिधि पर दौड़ते हैं तो हमें घुमाकर छोड़ देती है, और हमें इनको समझने के लिए पहले युग चाहिए, मनुष्य नहीं, क्योंकि मनुष्य यहाँ इतना लघु है कि दिखाई नहीं देता।

वह कहता है—

मैं नया कवि हूँ—
इसीसे जानता हूँ
सत्य की चोट बहुत गहरी होती है,

(सर्वेश्वर दयाल सक्सेना)

परन्तु इतनी पिटी-पिटाई बात कहने वाला अपनी आत्मा खोलता है इन शब्दों में—

मैं नया कवि हूँ
इसीसे मानता हूँ
चश्मे के तले ही दृष्टि बहरी होती है।
इसी से सच्ची चोटें बाँटता हूँ
झूठी मुस्कानें नहीं बेचता।

चोटें बाँटकर असली मुस्कानें बेचना नई कविता की ही जीवनी शक्ति हो सकती है, परन्तु यहाँ चोट नहीं लगती है, हाँ पढ़कर असली मुस्कान जरूर एक बार जन्म लेती है, तो कान भी धुंधाले जरूर होते होंगे। मेरे भी दाँतों को जीभ कभी-कभी काटने लगेगी और मैं उसे नयी कविता के अन्तर्गत अवश्य रख सकूंगा।

मैं एक तरफ बैठा हूं। सामने दुनिया की शतरंज है 'क अद्धावेद' के दार्श-

निक से नवीनतम दार्शनिकों की युगांतर की भीड़ मेरे सामने लाकर जुटा दीजिए, कोई मुझे जीवन की सार्थकता ही समझा दे। कसम से कोई ऐसा नहीं जन्मा जिसकी गोट में न पीट दूं। सबसे बड़ी सलाह है—'मन चंगा तो कठौती में गंगा।' बलि प्रेमी देवता से लेकर रासलीलाधारी कृष्ण, कृष्ण से ब्रह्म, ब्रह्म से साम्यवाद, यह सब आदमी के बनाए सिद्धान्त हैं। इन सब की आस्था और विश्वास पारस्परिक स्नेह सहयोग के 'उदात्त' के लिए है। किसी भी नवीनता का कोई तात्पर्य ही नहीं यदि वह इसे स्वीकार नहीं करती।

नई कविता जहाँ नवीनता का प्रयास नहीं, केन्द्र को पकड़ने का प्रयास करती है, वहाँ वह व्यक्तिपरक होने पर भी सजीव चेतन होती है। जैसे—

गीत की गुर्जरी प्राण के खेत में
दर्द के बीज कुछ इस तरह बो गई—
साँस जो भी उगी चोट खाई हुई
जिन्दगी क्या हुई, मौत ही हो गई।
—रमेश मटियानी

सत्य का अंगीकार किसी बन्धन की स्वीकृति नहीं है। दर्शन की अभिव्यक्ति यथार्थ और आदर्श के संघर्ष में समाप्त नहीं हो जाती। वह तो मनुष्य के मानसिक जीवन के आयामों का विस्तार है। या कहूँ नये-नये आयामों से परिचय प्राप्त करना है। आदर्श और यथार्थ के लिए कोई सत्य नहीं ठहरता, सत्य मनुष्य के राग मूलक जगत् में निवास करता है। और याद रखना आवश्यक है कि जगत् वह है जो गतिशील है। पुराना कवि समस्त में 'एक' की वर्णनातीत गरिमा की अनुभूति करने की चेष्टा करता था। परन्तु यह नहीं भूलना चाहिए कि विद्रोही पतनशील सिद्ध कवियों की साँकेतिकता भी अपने युग के लघुत्व की स्वीकृति थी, जो इतने रहस्यमय ढङ्ग से प्रकट हुई थी। शैली बन्धनों को तोड़कर हर युग के नये रूप सिरजे हैं, और हर शैली के प्राण उसकी वस्तु से ही विकीर्ण हुए हैं।

समस्या का सत्य आवश्कीय रूप से आदर्श का सत्य ही निकल आये यह असम्भव है। मनुष्य अन्तस्थ कभी भी बहिरस्थ के बिना पूर्ण नहीं हो सकता। युग का सत्य काव्य में सदैव चेतना लाता है, किन्तु युग युग का सत्य युग विशेष के वाह्य में नहीं रहता, वह उसके मनुष्य में रहता है। कविता उस

तादात्म्य की अभिव्यक्ति का स्वरूप है। विज्ञान परिधि है, उसका सत्य गोले का फैलना है, उससे आतंकित वही होगा, जो केन्द्र को भूल कर भटक जायेगा। यही यूरोप में हुआ, यही रूस में हुआ और अमरीका में यही हुआ। और दुर्भाग्य से मशीनों के परिचय ने मध्यवर्गीय कुण्ठा को यही भारत में भी दिया है। हम अपनी विषमता में ललकारते हैं पर अपने बालक को तो मुस्कान देते ही हैं। केन्द्र बदला कहाँ है जो नवीनता परिधिपरक होकर भटक रही है? गति यदि चलने मात्र की है, तो वह विभ्रम है। गति अपने आप में पूर्ण नहीं, वह माध्यम को 'वस्तु' कहें तो 'शैली' उसके लिए उठते चरण हैं। चलने का 'प्रयोग' तो पाँव ही करेंगे, उसकी गति को यन्त्र भी ले सकता है, परन्तु जब तक वह माध्यम है, तब तक उसकी आत्मा का प्रकृति से सामंजस्य है। नयी पीढ़ी की अहमन्यता इसे स्वीकार न करके इतिहास की व्याख्या में चमत्कार पैदा कर सकती है, किन्तु नैतिकता का विरोधी तत्व प्रत्येक युग में बदलते रहने में नहीं, उस केन्द्र का विरोध करने में है। जो सारी नैतिकता की 'जिजीविषा' का आधार है।

स्वातंत्र्य की सहिष्णुता का बीज हमारी भारतीय संस्कृति ने युगों के ऊसर में भी जीवित रखा है। हमारे रस सिद्धान्त में ऐसी व्यापकता है जो नयी कविता को आज भी प्राणतत्व दे सकता है, यदि उनकी गहराई समझी जाये। टी. एस. इलियट के "सहजीवन" और इलिया एहरेनबुर्ग के "भाव की प्रतिष्ठा" की पुकार मूलतः इसी भारतीय अनुभूति के दो वर्णीन दृष्टिकोणों का प्रतिफलन है।

मैं इसे मानव का सांगोपांग वर्णन कहूंगा और मानव इतना लघु और इतना विराट है कि उससे कुछ भी सान्त और अनन्त में दूर नहीं है। किन्तु प्रत्येक युग की कविता साधारण का आदर्शीकरण, और महान् का साधारणीकरण है। अपने प्रारम्भ और विकास का चरमफल यह नदी जिस समुद्र में जाकर करती है, वह और कोई नहीं, मानव की ही परिधि-विस्तार और केन्द्र के सम्बन्ध खींचने वाली रेखाएं हैं (Radius)

इस सत्य को भी नया कवि पहचान रहा है। अब कुंआरी आस्था चाहता है। कुंआरी का अर्थ है यह विवाह करेगी, माँ बनेगी, और फिर कुंआरी को जन्म देगी।

—:S❋?❋S:—

उपसंहार

इस प्रकार हमने काव्य के उन स्वरूपों को देखा जिनको हिन्दी की पृष्ठभूमि जानने के लिये जानना अत्यन्त आवश्यक था। काव्य किसी विशेष परिस्थिति में अपना विशेष रूप रखता है। जब हम इस सत्य को स्वीकार कर लेते हैं, तब काव्य के रूपों के सम्बन्ध में हमारी धारणाएँ बहुत स्पष्ट हो जाती हैं।

किन्तु एक बात समझ लेना बहुत आवश्यक है। और वह यह है कि इतना ही विवेचन काव्य के लिये पूर्ण नहीं हो जाता।

काव्य की मूल आत्मा जो इतने रूपों में विकास करके हम तक आई है, वह केवल दो सत्यों से परिचालित हो रही है, और वे हैं—जिजीविषा और रिरिंसा। साहित्य का स्थायी मूल्य इन्हीं से जन्म लेकर, इन्हीं में पलकर, इन्हीं में अपनी चरम अभिव्यक्ति प्राप्त करता है, और हमने इसे स्पष्ट किया है कि यही दो सत्य युग-युग से अपनी अभिव्यञ्जना विभिन्न रूपों में करते रहे हैं। रूप और प्रकार में काव्य के वाह्य और आभ्यंतरिक भेद उसके विभिन्न काल-प्रभा में विभिन्न आयामों के रूप में प्रस्तुत हुए हैं और इसीलिये उनमें भेद होने पर भी उनका मूल प्रायः एक विकास क्रम को प्रगट करता है, जिसको समझना काव्य का मूल मर्म समझ लेना है।